Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2350-0611**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XII **No. - 4** **(Oct. – Dec. 2025)**

(Part – V)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - *A Referred Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao,** Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh,** Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari,** Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain,** Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas,** Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Research Highlights"

➲	भारत का परमाणु अनुसंधान समाजशास्त्र ***डॉ. लियाकत अली***	01-09
➲	दलित साहित्य में प्रेम का चित्रण ***रश्मि*** ***प्रो. रजत रानी मीनू***	10-15
➲	महर्षि दयानन्द जीवनाधृत 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्यः एक समीक्षात्मक अध्ययन ***प्रेमचन्द्र*** ***डॉ. प्रचेतस्***	16-19
➲	कुम्भ मेले के दौरान प्राचीन परंपराओं को संरक्षित करने में नागा साधुओं की भूमिका ***रविकांत यादव*** ***प्रो. पवन कुमार यादव***	20-25
➲	पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन में आदिवासी समुदायों के संस्कृतियों की भूमिका : एक अध्ययन ***संदीप कुमार*** ***डॉ. अमृत कुमार***	26-29
➲	ग्रामीण समाज में महिलाओं की स्थिति : एक अध्ययन ***डॉ. संगीता कुमारी***	30-32
➲	ब्रिटिश कालीन स्त्री शिक्षा : एक ऐतिहासिक विश्लेषण ***डॉ. रानी कुमारी***	33-37
➲	गोलपुर के शैलाश्रयो में चित्रित : वृषभ चित्रण ***प्रशान्त सिंह मावई*** ***डॉ. दीपक सिंह***	38-40
➲	उत्तर मध्यकाल (13वीं–18वीं सदी) में आत्मनिर्भर उत्पादन प्रणाली ***श्याम बाबू शुक्ला*** ***प्रो. अरविन्द कुमार त्रिपाठी***	41-46
➲	19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अन्वेषण–संबंधी गतिविधियाँ : एक विश्लेषण ***डॉ. रीता कुमारी सिन्हा***	47-51
➲	शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया पर कृत्रिम बुद्धिमत्ता का प्रभाव ***डॉ. निशा पाण्डेय***	52-57
➲	प्राथमिक शिक्षा में आए बदलाव का समाज पर प्रभाव ***अंजली कुमारी***	58-61
➲	भारतीय विज्ञान एवं चिकित्सा पद्धति के विकास का इतिहास ***अजित सिंह***	62-64

◀◀ ▶▶

भारत का परमाणु अनुसंधान समाजशास्त्र

डॉ. लियाकत अली*

सारांश

विज्ञान का समाजशास्त्रइस बात पर ज़ोर देता है कि वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति को सामाजिक असर से अलग नहीं माना जा सकता और समाजशास्त्र के ज़रिए उनका विश्लेषण किया जा सकता है। हालांकि, भारत के परमाणु अनुसंधान को एक ऐसा संगठन माना जाता है जिस पर विधान मंडल की राजनीति का भी असर नहीं होता। यह पता लगाने के लिए कि भारतीय परमाणु अनुसंधान और ज्ञान सामाजिक माहौल से अलग हैं या नहीं, यह पेपर इन दो अलग-अलग विचारों का विश्लेषण करने की कोशिश करता है।यह भारत में परमाणु अनुसंधान की बनावट, उसके मकसद और नतीजों पर सामाजिक और धार्मिक दोनों पहलुओं के असर को देखता है। समाजशास्त्री भारतीय समाज को एक पारंपरिक समाज के तौर पर देखते हैं, जहाँ सामाजिक मूल्यों और यहाँ तक कि धार्मिक मूल्यों को भी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में अहम भूमिका निभानी पड़ती है। धर्म और धार्मिक नियम वैज्ञानिक अनुसंधान, संस्थाओं के बनने और काम करने के तरीकों के साथ-साथ सरकारों की नीति निर्माण प्रक्रिया पर भी असर डालते हैं।फिर भी, असरदार लोगों के विचारों को आखिरी बात में ज़्यादा अहमियत दी जाती है क्योंकि भारत में एक समान सामाजिक संरचना और मूल्यों का समूह नहीं है। इस प्रकार, भारतीय परमाणु कार्यक्रम को इन कारकों और विभिन्न युगों के सामाजिक मानदंडों को ध्यान में रखते हुए यहां के लोगों के समाजशास्त्र पर निर्भर रहना चाहिए। इस शोध पत्र का निष्कर्ष यह है कि निरंकुश और गैर-जिम्मेदार परमाणु अनुसंधान संस्थानों में भी सामाजिक मानदंड अपनी भूमिका निभाते रहते हैं; पदानुक्रम और अंधभक्ति भारतीय सामाजिक पदानुक्रम की रचना है।

मुख्य शब्द: परमाणु हथियार, जाति, विज्ञान का समाजशास्त्र, भारत

विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान का विकास समाजशास्त्रीय रूप से लागू होने वाला विषय है जिसका विश्लेषण किया जा सकता है, और इसमें सामाजिक कारकों की भूमिका को बाहर नहीं रखा गया है।डेविड ब्लूर (2005) का तर्क है कि सामाजिक कारक वैज्ञानिक ज्ञान की प्रक्रिया और परिणाम को प्रभावित करते हैं। ब्लूर कई ऐसे तरीके बताते हैं जिनसे समाज विज्ञान को प्रभावित कर सकता है, जिसमें ब्रह्माण्ड विज्ञान के सामान्य रूप जिसके लिए व्यक्ति सदस्यता लेते हैं और उनकी सकल सामाजिक संरचना, वैज्ञानिक सिद्धांतों की सामग्री के साथ आर्थिक, तकनीकी और औद्योगिक विकास के बीच संबंध, और वैज्ञानिक निष्कर्षों की प्रगति और मूल्यांकन पर गैर-वैज्ञानिक सांस्कृतिक पहलुओं के प्रभाव के साथ-साथ इन खोजों पर वैज्ञानिक शिक्षा और समाजीकरण के प्रभाव के बीच संबंध है (मोडोंगल, 2024)।

क्योंकि भारतीय परमाणु और अंतरिक्ष अनुसंधान को एक स्वतंत्र शोध पाठ माना जाता है जिसमें कोई राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं है और समाज के प्रति जवाबदेही नहीं है, विज्ञान के समाजशास्त्र से संबंधित अध्ययनों ने मुझे इस अनुशासन के सामाजिक पहलुओं का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। इस भारतीय परमाणु अनुसंधान परिदृश्य में, मैं इस बात में दिलचस्पी लूंगा कि क्या संस्थानों की स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप वैज्ञानिक अनुसंधान उत्पादों की स्वतंत्रता और ब्लोर तर्क का अनुप्रयोग होता है, जो कहता है कि सामाजिक प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक, साथ ही सटीक और गलत अध्ययन परिणामों को प्रभावित करते हैं। यह

* सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, मुमताज पी.जी. कॉलेज, लखनऊ

निबंध उस तरीके का विश्लेषण करेगा जिस तरह से परमाणु और अंतरिक्ष अध्ययन का संगठन, प्रेरक, प्रक्रिया और परिणाम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समाज और उसके मूल्यों से प्रभावित होते हैं। पेपर के पहले भाग में भारतीय समाज की प्रकृति और फिर सामान्य रूप से विज्ञान के समाजशास्त्र पर कार्यों पर चर्चा की जाएगी। सामाजिक कारक भारतीय परमाणु अनुसंधान को कैसे प्रभावित करते हैं और किस प्रकार व्यक्ति और संगठन इन सामाजिक विशेषताओं की संरचना और व्याख्या करते हैं, इस पर अगले अनुभाग में चर्चा की जाएगी।

विज्ञान का समाजशास्त्र

डेविड और सुलिवन (1975) द्वारा प्रतिपादित विज्ञान का समाजशास्त्र विज्ञान की सामाजिक स्थितियों और प्रभावों और वैज्ञानिक गतिविधियों की सामाजिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं को देखता है। 19वीं और 20वीं शताब्दी में ज्ञान के समाजशास्त्र की स्थापना और अध्ययन प्रसिद्ध समाजशास्त्री एमिल दुर्खीम और मार्सेल मौस द्वारा किया गया था, जो मानव अनुभूति और सामाजिक दुनिया के बीच संबंधों को देखते थे। मैक्स स्केलर (18741928), एक जर्मन दार्शनिक, को 1924 में खुद को ज्ञान के समाजशास्त्र के रूप में वर्णित करने का श्रेय दिया गया है, और इसका उपयोग तेजी से फैल गया, खासकर हंगेरियन समाजशास्त्री कार्ल मैनहेम (18931947) (पूले, 2016) के बीच।

वैज्ञानिक ज्ञान के समाजशास्त्र को तैयार करने वाले सिद्धांतकारों में से एक 1960 के दशक के अंत और 1970 के दशक की शुरुआत में बैरी बार्न्स, डेविड ब्लूर, हैरी कोलिन्स, पॉल फेयरबेंड, थॉमस कुहन और माइक मुल्के थे (मोडोंगल, 2024)। वैज्ञानिक ज्ञान का समाजशास्त्र एक ऐसा विषय रहा है जिसे बाउमन्स और अन्य ने विज्ञान और ज्ञान को एक निश्चित तरीके से परिभाषित करने के संबंध में नामित किया है (बाउमन्स एट अल. 2016, पृष्ठ 135)। वैज्ञानिक ज्ञान के समाजशास्त्र की दो वंशावली मैनहेमियन और विट्गेन्स्टाइनियन हैं जिनमें डिक पेल्स ने इसे विभाजित किया (पेल्स, 1996)। मैनहेमियन परंपरा वैज्ञानिक अनुसंधान में दोषों की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत करती है और इसे एक कमजोर कार्यक्रम कहा जा सकता है। इसका मानना है कि वैध वैज्ञानिक निष्कर्षों को समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है, हालांकि सामाजिक परिस्थिति वैज्ञानिक तर्क में त्रुटियों का कारण बन सकती है। इसलिए, मैनहेमियन परंपरा ने ऐसी त्रुटियों की सामाजिक व्याख्या प्रदान की है। मजबूत कार्यक्रम मजबूत परियोजना की विट्गेन्स्टाइनियन परंपरा को ब्लर, बार्न्स, कोलिन्स, हेनरी और मुल्के (मोडोंगल, 2024) द्वारा स्थापित और आगे बढ़ाया गया था। डेविड ब्लूर (2005), अपने निबंध द स्ट्रॉन्ग प्रोग्राम इन द सोशियोलॉजी ऑफ नॉलेज के लेखक, ने मजबूत कार्यक्रम का बचाव किया और त्रुटि के समाजशास्त्र के रूप में मैनहेमियन परंपरा का उल्लेख किया। मजबूत कार्यक्रम के तहत सही और गलत वैज्ञानिक सिद्धांतों का विश्लेषण करने के लिए समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को लागू किया जाएगा और उन्हें समान अवसर दिए जाएंगे। ज्ञान का सार स्व-हित और सांस्कृतिक संदर्भ सहित सामाजिक निर्धारकों द्वारा आकार दिया जाता है। चूँकि वैज्ञानिक भी समाज का हिस्सा हैं, इसलिए उनके व्यवहार और दृष्टिकोण का अध्ययन सामाजिक वातावरण के अन्य पहलुओं के अध्ययन के समाजशास्त्रीय तरीकों के माध्यम से किया जा सकता है (बौमन्स एट अल., 2016, पृष्ठ 138)। प्रौद्योगिकी के सामाजिक निर्माण की अवधारणा ट्रेवर पिंच और विबे बिज्कर द्वारा ब्लर द्वारा विकसित एक मजबूत कार्यक्रम की प्रतिक्रिया के रूप में बनाई गई थी (पिंच और बिज्कर, 1984)। उन्होंने तर्क दिया कि प्रौद्योगिकी को समझने के लिए प्रौद्योगिकी के सामाजिक संदर्भ पर विचार करना होगा।

विग (1988) प्रौद्योगिकी में तीन प्रवेशकों की पहचान करता है। वे प्रौद्योगिकी और राजनीति के साथ-साथ समाज के बीच संबंधों से संबंधित नैतिक मुद्दों पर चर्चा करते हैं। पहला उपकरणवाद है जो तर्क देता है कि प्रौद्योगिकी केवल एक साधन और अंत तक पहुंचने की एक विधि है। यह अनैतिक हुए बिना नए विकल्प चुनता है क्योंकि वैज्ञानिक समाज में भागीदार होते हैं, उनके व्यवहार और धारणाओं का अध्ययन सामाजिक

वातावरण के अन्य पहलुओं की जांच के लिए समाजशास्त्र के तरीकों से किया जा सकता है (बौमन्स एट अल., 2016, पृष्ठ 138)। प्रौद्योगिकी का सामाजिक निर्माण ट्रेवर पिंच और विबे बिज्कर द्वारा ब्लोर के सुस्थापित कार्यक्रम (पिंच और बिज्कर, 1984) की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित एक अवधारणा है। दूसरा सामाजिक नियतिवाद है जो मानता है कि प्रौद्योगिकी को केवल एक निश्चित समाज के संदर्भ में ही समझाया जा सकता है और यह समाज के अन्य कारकों में विशेष नहीं है। तीसरी अवधारणा तकनीकी नियतिवाद है, जो मानती है कि प्रौद्योगिकी में एक अद्वितीय चरित्र और अंतर्निहित शक्ति होती है। प्रौद्योगिकी में अभी भी नियंत्रण सिद्धांत अंतर्निहित हैं। जॉन स्ट्रीट ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स एंड टेक्नोलॉजी में तीन सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं। पहला प्रौद्योगिकी सिद्धांत की स्वायत्तता है, जो इस तथ्य पर आधारित है कि प्रौद्योगिकी की स्वायत्त गति है जिसमें अनियंत्रित शक्ति है। दूसरा, तकनीकी नियतिवाद थीसिस इस बात पर जोर दे रही है कि तकनीकी विकास उस प्रणाली को आकार देता है जिसके अनुसार राजनीतिक व्यवस्था संचालित होती है। राजनीतिक विकल्प का सिद्धांत इंगित करता है कि, तीसरी परिकल्पना के अनुसार, मानव आवश्यकताओं की संतुष्टि, एक इकाई जो सामाजिक और राजनीतिक चर द्वारा आकार लेती है, प्रौद्योगिकी के निर्माण का प्रत्यक्ष कारण है (स्ट्रीट, 1992)। वर्तमान पेपर प्रौद्योगिकी और सामाजिक स्थिति के साथ-साथ इसके विपरीत प्रभाव को भी पहचानता है, जिसका श्रेय विकसित किए गए कई सामाजिक और तकनीकी सिद्धांतों को दिया जा सकता है। प्रौद्योगिकी पर्यावरण की दृष्टि से संवेदनशील है। वैज्ञानिक और तकनीकी अनुसंधान काफी हद तक समाज के आदर्शों, उसकी राजनीतिक/आर्थिक व्यवस्था, विशिष्ट वर्गों की मान्यताओं और लक्ष्यों और कई संप्रदायों की जरूरतों पर निर्भर करते हैं।

वैज्ञानिक ज्ञान अक्सर सामाजिक और व्यक्तिगत पहलुओं से स्वतंत्र होकर अपनी सार्वभौमिकता और निष्पक्षता से गुजरता है। लेकिन, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया था, इस निष्पक्षता की थॉमस कुह्न, डेविड ब्लूर आदि ने आलोचना की है। कुह्न (1962) ने द स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशन्स नामक अपनी अभूतपूर्व पुस्तक में तर्क दिया कि एक वैज्ञानिक सिद्धांत का विकास विविध और बदलती बौद्धिक स्थितियों और संभावनाओं के संयोजन पर निर्भर है, न कि केवल तथ्यों के संचय पर।

भारतीय समाज और विज्ञान

भारतीय राष्ट्र की सामाजिक संरचना वैज्ञानिक अनुसंधान के संगठन और विकास और, विशेष रूप से, देश के परमाणु कार्यक्रम को प्रभावित करती है। भारतीय समाज का अपना विशिष्ट चरित्र है और यह अन्य देशों से भिन्न है। भारतीय समाज बड़ी संख्या में अवसरों और बौद्धिक परंपराओं के व्यापक स्पेक्ट्रम के कारण इस तरह से विकसित हुआ है, जिनकी जड़ें हजारों साल पहले की हैं। टी.के. ओम्मन (2001) ने सात प्रमुख घटनाओं की पहचान की है जिन्होंने भारतीय सभ्यता को प्रभावित किया। वे हैं आर्यों का आगमन, बौद्ध धर्म, सिख धर्म और जैन धर्म की भारतीय प्रोटेस्टेंट संस्कृतियों का उद्भव, उपमहाद्वीप में गैर-भारतीय धर्मों का आगमन, मुसलमानों की विजय और प्रभुत्व, उपनिवेशवाद-विरोधी मुक्ति आंदोलन, पश्चिमी उपनिवेशीकरण, साथ ही 1947 में भारतीय उपमहाद्वीप का विभाजन (मोडोंगल, 2024)। इस लंबी प्रक्रिया के कारण भारतीय समाज उम्र, लिंग और अन्य प्रकार के भेदभावों के कारण स्तरीकृत हो गया। भारत में ये स्तरीकरण कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणाओं के आधार पर उचित रूप से जाति व्यवस्था द्वारा प्रतिष्ठित हैं। भारत के प्राचीन स्तरीकरण में चार बड़ी जातियाँ शामिल हैं; ब्राह्मण, पुजारी; क्षत्रिय, योद्धा; वैश्य, व्यापारी, और शूद्र, श्रमिक, अधिकतर। थॉमस (2020) का कहना है कि कोटा द्वारा पिछड़े वर्ग के लिए शैक्षिक अवसरों को बढ़ाने के हालिया प्रयासों के बावजूद, आज भी, उच्च जाति के ब्राह्मण प्रमुख विज्ञान और प्रौद्योगिकी संस्थानों पर हावी हैं। इसी वर्चस्व के कारण ब्राह्मण भारत में वैज्ञानिकों के आदर्श में एक लोकप्रिय व्यक्ति बन गया है। गैर-ब्राह्मण वैज्ञानिकों के आने से इस दृष्टिकोण में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं आया है। इसके अलावा, शाकाहार सहित ब्राह्मण वंश से

जुड़े कई सांस्कृतिक लक्षणों को वैज्ञानिक संस्थानों के संदर्भ में सामान्यीकृत किया गया है (थॉमस, 2018)। जैसा कि थॉमस (2020) ने दावा किया, परिसर का नाम अय्यर अयंगर विज्ञान परिसर है, जो बैंगलोर में प्रतिष्ठित भारतीय विज्ञान संस्थान में ब्राह्मण निर्भरता की याद दिलाता है।

भारतीय परमाणु कार्यक्रम का सामाजिककरण

परमाणु कार्यक्रम की पारंपरिक यथार्थवादी व्याख्या में, परमाणु हथियारीकरण की आवश्यकता के प्रमुख कारक के रूप में बाहरी खतरे पर अधिक जोर दिया गया है। अपने विचार में, थायर बताते हैं कि सुरक्षा परमाणु प्रसार का एक बड़ा कारण है क्योंकि यह एकमात्र कारण और पर्याप्त है (थायर, 1995, पृष्ठ 486)। इसलिए, भारत में परमाणु हथियारों के विकास को चीन और पाकिस्तान के साथ देश के प्रतिकूल संबंधों के संदर्भ में समझाया गया है। ऐसे परीक्षण उन सामाजिक और घरेलू कारकों पर विचार नहीं करते हैं जो परमाणु अनुसंधान और विकास को प्रभावित करते हैं और राज्य को एक ब्लैक बॉक्स के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय परमाणु कार्यक्रम का समाजशास्त्रीय परीक्षण कई सामाजिक रूप से उल्लेखनीय कारणों को उजागर करता है। परमाणु हथियारीकरण की धारणा को भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं और मूल्यों द्वारा सक्षम और बाधित पाया गया है। जेपर्सन एट अल. (1996) ने रणनीतिक निर्णय लेने पर घरेलू संस्कृति के विविध निहितार्थों की पहचान की। उनका तर्क है कि, सांस्कृतिक परिवेश राज्य की पहचान और हित तथा राजनेताओं के व्यवहार को आकार देता है। ऐसे मानक परमाणु हथियारों के निर्माण और तैनाती की वैधता पर रोक लगाते हैं। कार्टचनर (2009) के अनुसार कुछ संस्कृतियों के तहत, WMD का विकास और उपयोग उचित और उचित है। ठीक इसी तरह, इन हथियारों का इस्तेमाल अंतरराष्ट्रीय समाज में सम्मान जैसे सांस्कृतिक रूप से स्वीकार्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भी किया जा सकता है।

अधिकांश यूरोपीय देशों की तुलना में भारत की संस्कृति बहुत विविध और बहुलवाद के अनुकूल थी। परिणामस्वरूप, भारतीयों के धर्म और संस्कृतियाँ असमान हैं। फिर भी, भारतीय सामाजिक मानदंडों का अभी भी भारतीय समाज के गठन पर प्रमुख प्रभाव है क्योंकि सबसे बड़ा भारतीय धर्म हिंदू धर्म है। हिंदू धर्म के आदर्श एक ही समय में विरोधी और अनेक व्याख्याओं वाले थे।

आधुनिकीकरण और विज्ञान से संबंधित उनकी प्रथाएं भिन्न थीं, हालांकि स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद शुरुआती वर्षों के दौरान गांधी और नेहरू की विचारधाराएं भारतीय राजनीति और संस्कृति में प्रबल थीं। जब गांधीजी द्वारा आदर्शवादी, ग्राम-आधारित विकास को बढ़ावा दिया गया, तो नेहरू ने भारत के भविष्य के विकास के लिए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के महत्व को समझा। यह सुनिश्चित करने के लिए कि भारत भविष्य के परमाणु दशकों में पश्चिमी देशों से पीछे न रह जाए, नेहरू ने विदेशी आक्रमण और उपनिवेशवाद को सीमित वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगिक क्रांतियों की कमी का परिणाम माना।

गांधी और नेहरू के अनुसार, उन्होंने परमाणु तकनीक को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। नेहरू परमाणु हथियार रखने के इच्छुक नहीं थे और यह समस्या इस तथ्य से स्पष्ट है कि भले ही उनसे परमाणु सैन्यीकरणवादी होने की उम्मीद की जाती थी, लेकिन देश के नेता के रूप में अपने 17 साल के कार्यकाल के दौरान उन पर गांधीवादी विचारधाराओं का प्रभाव था (पेर्कोविच, 1999), अन्य बातों के अलावा, एच.जे. भाभा को भी नकारा नहीं जा सकता।

बहरहाल, भारतीय विरासत की भारतीय पुरुषवादी समझ को दक्षिणपंथी हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा प्रचारित किया गया था जो 1990 के दशक के बाद की भारतीय राजनीति में सत्ता में आए थे। उनका आरोप है कि अपने आदिम दिनों में भारत ने आधुनिक विमानों और परमाणु हथियारों की प्रौद्योगिकियों में समानताएं विकसित कीं।

विदेशियों के आक्रमण के कारण भारत अन्य देशों से पिछड़ गया। इसलिए, परमाणु कार्यक्रम और तकनीकी विकास की ओर उन्मुखीकरण को भारत के ऐतिहासिक गौरव को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कदम के रूप में देखा गया। जैसा कि यंग (2004) ने कहा था, भारतीय परंपरा के साथ-साथ हिंदू धर्म के बारे में गांधीवादी दृष्टिकोण हिंदू दक्षिणपंथी नेताओं से भिन्न था। भाजपा के हिंदू राष्ट्रवादी परमाणु हथियारों में दृढ़ विश्वास रखते थे और पारंपरिक धार्मिक हठधर्मिता का हवाला देकर अनुयायियों को संगठित करते थे। कांति बाजपेयी (2004, 2009) ने 1998 में परमाणु परीक्षण के समय भारत में भाजपा के नेतृत्व वाले प्रशासन के वैचारिक आधार को संदर्भित करने के लिए राजनीतिक वेश्यावृत्ति शब्द का इस्तेमाल किया था। यह वैज्ञानिक समुदाय भी था जिसने भारतीय परंपरा की यथार्थवादी व्याख्या की पेशकश की थी, हालांकि वे सीधे तौर पर राजनीतिक हिंदू धर्म या दक्षिणपंथी संगठन से जुड़े नहीं थे।

भारतीय/हिन्दू परंपरा में परमाणु हथियारों की नैतिकता पर कई दृष्टिकोण हैं। 24 जून 1945 को न्यू मैक्सिको में पहले परमाणु विस्फोट के तुरंत बाद रॉबर्ट ओपेनहाइमर ने भगवद गीता का हवाला देते हुए कहा, "अब मैं मृत्यु बन गया हूं, दुनिया का विनाशक" (यंग, 2004, पृष्ठ 277)। इमैनुएल मैत्रे के अनुसार, कई हिंदू पौराणिक संदर्भों ने 1998 में परमाणु हथियार परीक्षणों में अग्रणी भूमिका निभाई (मैत्रे, 2016, पृष्ठ 28)।

हिंदू पौराणिक कथाओं में अंतिम उपाय के हथियार के रूप में ब्रम्हास्त्र और सामूहिक विनाश के अन्य उपकरणों के उपयोग और यहां तक कि औचित्य के कारण। रामायण और महाभारत महाकाव्य बड़े पैमाने पर दिव्य अस्त्र, दिव्य हथियारों पर निर्भर हैं, जिनमें से बड़ी संख्या में भारी विनाश करने में सक्षम हैं। पौपतास्त्र पाने के लिए, जो कि भगवान शिव द्वारा प्रदत्त सबसे दुर्जेय तलवार है, अर्जुन, जो महाभारत में पी2जी अवा के एक प्रसिद्ध नायक हैं, एक संयम-प्रेमी व्यक्ति के रूप में अपना जीवन जीने का फैसला करते हैं। यह दुश्मनों को ख़त्म कर सकता है, राक्षसों को मार सकता है और सबसे बढ़कर, पूरी दुनिया को जला सकता है (स्टैस्ज़िज़क, 2014, पृष्ठ 188)। जारोड एल. व्हिटेकर का तर्क है कि दो भारतीय महाकाव्यों की तुलना में मिथकों का कोई अन्य समूह दिव्य हथियारों के विचार में अधिक विस्तृत नहीं है (व्हिटेकर, 2000, पृष्ठ 87)।

हालाँकि, भगवद गीता के एक अन्य अनुयायी, गांधी ने टिप्पणी की कि, जब तक दुनिया अब अहिंसा में विश्वास नहीं करती, इसका मतलब न्यू मैक्सिको में पहले परमाणु परीक्षण की प्रतिक्रिया में मानव जाति के लिए मौत की सजा होगी। (पृष्ठ 277, यंग, 2004)। मानदंडों की मौजूदा असंख्य परस्पर विरोधी व्याख्याओं में से, राजनीतिक नेता उनमें से एक को चुनते हैं और तदनुसार जनसंख्या को संगठित करते हैं। अर्थात्, परमाणु हथियार अनुसंधान पर सामाजिक मूल्यों का प्रभाव है जैसा कि परमाणु हथियार विकास पर भारतीय परंपरा की गांधीवादी व्याख्या और हथियारीकरण की भारतीय परंपरा पर हिंदू राष्ट्रवादी व्याख्या द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह इतिहास और पारंपरिक मानक रहे हैं जो राजनीतिक नेताओं के अलावा वैज्ञानिक समुदाय को भी प्रभावित करते हैं। विंग्स ऑफ फायर, ए.पी.जे. की आत्मकथा अब्दुल कलाम (1999), विज्ञान की दुनिया पर पारंपरिक भारतीय संस्कृति के प्रभाव पर जानकारी के स्रोत के रूप में भी कार्य करता है। परमाणु वैज्ञानिक परमाणु निर्णय लेते समय सेना का विरोध करना चाहते हैं, इसलिए यह मार्शल वर्ग (क्षत्रिय) पर बौद्धिक वर्ग (ब्राह्मण) के वर्चस्व को दर्शाता है (मोडोंगल, 2024)।

विभिन्न संस्थानों के बीच परमाणु परियोजनाओं के हित भिन्न-भिन्न हैं; ये सैन्य, शोधकर्ता, सरकारी हस्तियां और वैज्ञानिक संगठन हैं जिनकी सामाजिक स्थिति और निरस्त्रीकरण या सैन्यीकरण द्वारा एक-दूसरे से ऊपर उठने की इच्छा परमाणु परियोजनाओं में उनके हितों को प्रभावित करती है। एक निश्चित अवधि में प्रत्येक समूह की शक्ति के आधार पर हथियारीकरण या निरस्त्रीकरण का निर्णय परमाणु प्रसार के दूसरे मॉडल का गठन करता है (सागन, 1996, पृष्ठ 63)।

जैसा कि विलियम एप्सटीन ने बताया है, परमाणु हथियारीकरण के बारे में सभी देशों में अलग-अलग और परस्पर विरोधी राय होगी। उदाहरण के तौर पर, समान विचारों वाले नागरिक समाज और राजनीतिक दल हथियारीकरण का विरोध कर सकते हैं, लेकिन परमाणु अनुसंधान में वैज्ञानिक और नौकरशाह और यहां तक कि रणनीतिक मुकाबला रणनीतिकार भी इसका समर्थन करेंगे (एपस्टीन, 1977, पृष्ठ 25)। राज्य की अंतिम नीति बातचीत प्रक्रिया में दोनों पक्षों की ताकत पर निर्भर करती है। सागन के अनुसार, 1974 में हुए भारतीय परमाणु परीक्षणों को समझने के प्रयास में, 1964 में चीनी परमाणु परीक्षण के बाद नौकरशाही की विस्तारित लड़ाई पर विचार किया जाना चाहिए (सागन 1996, पृष्ठ 66)। दूसरा कारण यह था कि परमाणु परियोजना भारतीय समाज की आर्थिक स्थिति और कृषि प्रधान समाज को औद्योगिक समाज में बदलने की आवश्यकता, विशेषकर नेहरू शासन, से प्रभावित थी। इसे विज्ञान पर उनके दृष्टिकोण और एक नागरिक पहल के रूप में भारत के परमाणु कार्यक्रम की वकालत में देखा जाता है (मोडोंगल, 2024)।

परमाणु नीति न केवल भारतीय समाज की परिस्थितियों से बल्कि वैश्विक संदर्भ और उसमें परमाणु हथियारों की भूमिका से भी प्रभावित होती है। परमाणु हथियार वैश्विक मंच पर राज्यों की राजनीतिक स्थिति और कार्यप्रणाली पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं (ओ'नील, 2002)। पारंपरिक सैन्य हथियारों के विपरीत, परमाणु हथियार किसी राष्ट्र के लिए शक्ति और स्थिति के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। परिणामस्वरूप, यह व्यक्तियों की राष्ट्रीयता को बढ़ाने के लिए एक उत्कृष्ट साधन के रूप में कार्य करता है। भारत में परमाणु कार्यक्रम को भूमिका निभाने के समाजशास्त्रीय विचार का उपयोग करके स्पष्ट किया जा सकता है। भारत एक बच्चे की नकल के समान, दूसरों के व्यवहार की नकल करके, विश्वव्यापी मान्यता जैसे समान लाभ प्राप्त करने के लिए पहली पीढ़ी के परमाणु हथियार वाले देशों की रणनीतियों का अनुकरण करता है। भारत सहित पूर्व औपनिवेशिक देशों ने परमाणु हथियारों को वैश्विक समुदाय में अपनी स्थिति को ऊंचा उठाने के साधन के रूप में देखा। उनके परमाणु हथियार उन्हें परमाणु हथियार वाले राज्यों पर निर्भरता से बचने में भी मदद करने में सक्षम हैं (एपस्टीन, 1977, पृष्ठ 21-22)। भारतीय परमाणु विकास को तीसरी दुनिया की एकता (मोडोंगल) के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के कारण तीसरी दुनिया के देशों की स्थिति को समृद्ध करने के प्रयास के रूप में भी देखा जा सकता है।

सेना या कैबिनेट परमाणु हथियार कार्यक्रमों से संबंधित महत्वपूर्ण निर्णय नहीं लेते हैं; परमाणु परियोजनाओं पर परमाणु विशेषज्ञों का नियंत्रण बना रहता है। यह एच.जे. भाभा और वैज्ञानिक थे जिन्होंने परमाणु कार्यक्रम को नागरिक नियंत्रण में रखा, न कि राजनीतिक नेताओं, नेहरू और शास्त्री ने। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच मौजूद जातिगत अंतर, परमाणु वैज्ञानिकों के पास सामूहिक विनाश के हथियार और उनकी सेना पर हावी होने की शक्ति से संबंधित हो सकता है। ब्राह्मणों को सैन्य और सरकारी भूमिकाओं के प्रभारी क्षत्रियों के साथ वेदों का अध्ययन और अभ्यास करना था। यह संस्करण कि विष्णु ने अपने छठे अवतार, परशुराम को क्षत्रियों के उत्पीड़न के कारण उनका सफाया करने के लिए भेजा था, कुछ शिक्षाविदों द्वारा पुजारियों और राजाओं द्वारा लंबे समय से चली आ रही लड़ाई के परिणामस्वरूप उत्पन्न मिथक है, जिसके पास शक्ति थी (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, एन.डी.)। पेरकोविच (1999) का कहना है कि वैज्ञानिक जो मुख्यतः दक्षिण भारतीय ब्राह्मण मूल के थे, विज्ञान के गहनतम क्षेत्रों में अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के इच्छुक थे। वे अभी भी अपनी स्वतंत्रता को बरकरार रखना चाहते हैं, हालांकि वे इसे छोड़ने के लिए अनिच्छुक थे।

हालाँकि क्षत्रिय सेना में काम करते हैं, लेकिन ऐसा माना जाता है कि ब्राह्मणों के मंत्र और उनका उच्चारण पूरे ग्रह के विनाश का कारण बन सकता है और इसकी तुलना WMD प्रभावों से की जा सकती है। क्षत्रियों की सैन्य शक्ति की तुलना में ब्राह्मणों के हथियारों की प्रभावशीलता, जिसमें प्रणोदन और मंत्र भी शामिल हैं, शारीरिक शक्ति पर ज्ञान की शक्ति का प्रतीक है। भारतीय सेना के जन्मजात क्षत्रिय कर्तव्य के

मामले में परमाणु विशेषज्ञ आज के ब्राह्मण प्रतीत होते हैं। 1974 के परमाणु परीक्षण की योजना मुख्य रूप से शीर्ष जाति के हिंदुओं, राजा रमन्ना, पीके अयंगर और राजगोपाला चिदंबरम द्वारा बनाई गई थी। जैसे कि वीएसआर अरुणाचलम उच्च जाति से हैं और उस समय रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन के प्रमुख थे, जब पृथ्वी मिसाइल के साथ-साथ भारत की अधिकांश परमाणु हथियार क्षमताएं विकास के अधीन थीं (पेर्कोविच, 1999, पृष्ठ 401)। पर्कोविच (1999, पृ. 450), नौसेना स्टाफ के पूर्व उप प्रमुख के. परमाणु विशेषज्ञों ने यह सुनिश्चित किया कि सेना को परमाणु मुद्दों के बारे में शिक्षित नहीं किया गया था, जैसे ब्राह्मण वैदिक रहस्यों को जानते थे, लेकिन उन्हें अन्य ब्राह्मणों द्वारा सूचित नहीं किया गया था। परमाणु कार्यक्रम इस बात का प्रकटीकरण था कि ज्ञान कितना कीमती है और वैज्ञानिक सैन्य बल से कैसे बेहतर थे।

निष्कर्ष

भारत में परमाणु अनुसंधान किसी भी अन्य वैज्ञानिक अनुसंधान की तरह ही सामाजिक मूल्यों और हितों से प्रभावित है। राजनीतिक पसंद के सिद्धांत के अनुसार, वैज्ञानिक निष्पक्षता की अवधारणा को तकनीकी विकास पर राजनीतिक या सामाजिक मूल्यों के प्रभाव के स्तर से चुनौती मिलती है। वस्तुतः संस्कृति की प्राथमिकता और विज्ञान के विकास के बीच घनिष्ठ संबंध है। इसी तरह, भारत के मूल्य और सामाजिक संरचना वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रभावित करते हैं जहां जाति पदानुक्रम देखा जाता है और वैज्ञानिक अनुसंधान के साथ-साथ स्वयं भारतीय वैज्ञानिकों दोनों में प्रमुख है।

विद्वानों के अनुसार परमाणु विकास कई घरेलू कारकों से महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित हुआ है जिनमें राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक और रणनीतिक आदर्श शामिल हैं। भले ही कुछ संस्कृतियों का मानना है कि सामूहिक विनाश के हथियारों का उपयोग अनैतिक है, कुछ संस्कृतियाँ यह उचित ठहराती हैं कि उनका उपयोग तब तक उचित है जब तक अंतिम लक्ष्य उचित हैं। भारतीय विरासत की भारतीय पुरुषवादी समझ को भारत में 1998 के परमाणु परीक्षणों का श्रेय दिया जा सकता है क्योंकि भाजपा सरकार काफी हद तक इस तथ्य से प्रेरित थी कि पुरुषत्व की व्याख्या भारतीय विरासत को समझने का एक तरीका था। हालाँकि कैबिनेट और संसद जैसी लोकतांत्रिक संस्थाएँ अपनी स्वतंत्रता पर जोर दे सकती हैं, लेकिन इस स्वतंत्रता का उपयोग केवल भारतीय समाज की पदानुक्रमित प्रकृति की सीमा को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है।

हम एक ओर भारत में राजनीतिक और आर्थिक जीवन की स्थितियों और दूसरी ओर परमाणु हथियार बनाने और सैन्यीकरण करने की देश की प्रेरणा के बीच अंतर नहीं कर सकते। वे समाज में वैचारिक संरचनाओं द्वारा भी निर्धारित होते हैं, जो परमाणु वैज्ञानिकों को (नीति निर्माताओं के अलावा) आकार देकर राजनीति, विज्ञान और सामाजिक मूल्यों के बीच जटिल संबंधों को बढ़ाते हैं। यह श्लोक इस बात की अधिक उन्नत समझ के महत्व पर बल देता है कि समाज की सांस्कृतिक विचारधाराएँ और संस्थाएँ भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान और तकनीकी प्रगति को कैसे प्रभावित करती हैं। अपने उपयोगकर्ताओं की आवश्यकताओं और उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान को अधिक निष्पक्ष और समावेशी बनाने के लिए समाज के इन पहलुओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

संदर्भ

1. बाजपेयी, के. (2004). हिंदुइज़्म और वेपन्स ऑफ़ मास डिस्ट्रक्शन: पैसिफिस्ट, प्रूडेंशियल, और पॉलिटिकल। एस. एच. हाशमी और एस. पी. ली (एडिटर्स) में एथिक्स एंड वेपन्स ऑफ मास डिस्ट्रक्शन: रिलीजियस एंड सेक्युलर पर्सपेक्टिव्स (पेज: 208-320)। न्यूयॉर्क: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. बाजपेयी, के. (2009). द बीजेपी एंड द बॉम्ब। एस. डी. सागन (एडिटर्स) में, इनसाइड न्यूक्लियर साउथ एशिया। स्टैनफोर्ड: स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

3. ब्लूर, डी. (2005). द स्ट्रॉन्ग प्रोग्राम इन द सोशियोलॉजी ऑफ नॉलेज। एन. स्टेहर और आर. ग्रुंडमैन (एडिटर्स) में नॉलेज: क्रिटिकल कॉन्सेप्ट्स (वॉल्यूम 5)। (पेज.164-183)। रूटलेज (ओरिजनली 1976 में पब्लिश हुआ)।
4. बौमन्स, एम. एट अल. (2016). द सोशियोलॉजी ऑफ साइंटिफिक नॉलेज। एम. बौमन्स, एम और जे. डेविस (एडिटर्स) में इकोनॉमिक मेथोडोलॉजी: अंडरस्टैंडिंग इकोनॉमिक्स एज़ ए साइंस। पाल्ग्रेव मैकमिलन.
5. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका. (n.d.) क्षत्रिय: हिंदू जाति, http://www.britannica.com/EBchecked/topic/324024/Kshatriya.
6. एपस्टीन, डब्ल्यू. (1977). स्टेट्स न्यूक्लियर क्यों बनते हैं – और क्यों नहीं बनते. एनल्स ऑफ़ द अमेरिकन एकेडमी ऑफ़ पॉलिटिकल एंड सामाजिकसाइंस. 430, 16-28
7. जेपर्सन, आर. एल. एट अल (1996). नेशनल सिक्योरिटी में नॉर्म्स, आइडेंटिटी, और कल्चर. पी. जे. कैटज़ेनस्टीन (एड.) द कल्चर ऑफ़ नेशनल सिक्योरिटी: नॉर्म्स एंड आइडेंटिटी इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स में. न्यूयॉर्क: कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस
8. कलाम, ए.पी.जे.ए. (1999). विंग्स ऑफ़ फायर. हैदराबाद: यूनिवर्सिटीज़ प्रेस (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड.
9. कार्टचनर, के. एम. (2009). स्ट्रेटेजिक कल्चर और WMD डिसीजन मेकिंग। जे. एल. जॉनसन, के. एम. कार्टचनर और जे. ए. लार्सन (एडिटर) स्ट्रेटेजिक कल्चर और वेपन्स ऑफ मास डिस्ट्रक्शन, न्यूयॉर्क: पालग्रेव मैकमिलन
10. कुह्न, टी.एस. (1962). द स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रेवोल्यूशन्स। यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।
11. मैत्रे, ई. (2016). क्या न्यूक्लियर डिटरेंस नैतिक रूप से डिफेन्सिबल है?: धार्मिक नजरिया। फाउंडेशन पोर ला रिसर्च स्ट्रैटेजिक, https://www.frstrategie.org/sites/default/files/documents/publications/recherches-et-documents/2016/201605.pdf.
12. मोडोंगल, एस. (2024). इंडिया में परमाणु अनुसंधान की सोशियोलॉजी। https://journalspoliticalscience.com/index.php/i/article/view/144
13. मोडोंगल, एस. और मौसावियन, एस. एच. (2022). धर्म और न्यूक्लियर वेपन्स: इस्लामिक रिपब्लिक ऑफ़ ईरान और पाकिस्तान की एक स्टडी. दिल्ली: विज बुक्स इंडिया प्राइवेट लिमिटेड.
14. ओ'नील, बी. (2002). न्यूक्लियर वेपन्स और प्रेस्टीज की तलाश. http://www.sscnet.ucla.edu/polisci/faculty/boneill/prestap5.pdf.
15. ऊम्मेन, के.टी. (2001). इंडियन सोसाइटी को समझना: नीचे से नज़रिए की अहमियत. ओकेशनल पेपर सीरीज़- 4, सोशियोलॉजी डिपार्टमेंट, यूनिवर्सिटी ऑफ़ पुणे
16. पेल्स, डी. (1996). कार्ल मैनहेम और साइंटिफिक नॉलेज की सोशियोलॉजी: एक नए एजेंडा की ओर. सोशियोलॉजिकल थ्योरी, 14 (1), 30-48
17. पर्कोविच, जी. (1999). इंडियाज़ न्यूक्लियर बम: द इम्पैक्ट ऑन ग्लोबल प्रोलिफरेशन. यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस.
18. पिंच, टी. जे., और बिजकर, डब्ल्यू. ई. (1984). फैक्ट्स और आर्टिफैक्ट्स का सामाजिककंस्ट्रक्शन: या साइंस की सोशियोलॉजी और टेक्नोलॉजी की सोशियोलॉजी एक-दूसरे को कैसे फायदा पहुंचा सकती हैं। साइंस की सामाजिकस्टडीज़, 14(3), 399-441.
19. पूले, जे. डी. (2016). नॉलेज की सोशियोलॉजी। के.बी. जेन्सेन, ई.डब्ल्यू. रोथेनबुहलर, जे.डी. पूले और आर.टी. क्रेग (एडिटर्स) द इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ कम्युनिकेशन थ्योरी एंड फिलॉसफी में। विली-ब्लैकवेल। https://doi.org/10.1002/9781118766804.wbiect209
20. रमना, एम.वी. (2009). इंडियाज़ न्यूक्लियर एन्क्लेव एंड द प्रैक्टिस ऑफ़ सीक्रेसी। आई. अब्राहम (एड.) साउथ एशियन कल्चर्स ऑफ़ द बॉम्ब: एटॉमिक पब्लिक्स एंड द स्टेट इन इंडिया एंड पाकिस्तान (पेज 42-67)। ब्लूमिंगटन: इंडियाना यूनिवर्सिटी स्ट्रीट प्रेस।
21. सागन, एस.डी. (1996). देश न्यूक्लियर वेपन क्यों बनाते हैं?: बम की तलाश में तीन मॉडल। इंटरनेशनल सिक्योरिटी, 21(3), 54-86
22. स्टाज़िक, ए. (2014). द मैजिक वेपन-हिंदू ट्रेडिशन के टेक्स्ट्स में बताया गया इसका अपीयरेंस, एक्विजिशन और एप्लीकेशन। द पोलिश जर्नल ऑफ़ द आर्ट्स एंड कल्चर, 9(1), 185-207.

23. स्ट्रीट, जे. (1992). पॉलिटिक्स एंड टेक्नोलॉजी। स्प्रिंगर
24. थायर, बी. ए. (1995), द कॉज़ेज़ ऑफ़ न्यूक्लियर प्रोलिफरेशन एंड द नॉन-प्रोलिफरेशन रिजीम। सिक्योरिटी स्टडीज़, 4(3), 463-519
25. थॉमस, आर. (2018). आज के भारत में टकराव और एक-दूसरे को पूरा करने वाले साइंस और धर्म से आगे। साइंस, टेक्नोलॉजी और समाज, 23(1), 47-64.
26. थॉमस, आर. (2020). साइंटिस्ट के तौर पर ब्राह्मण और ब्राह्मणों का पेशा साइंस: एक भारतीय साइंटिफिक रिसर्च इंस्टीट्यूट में जाति। साइंस की पब्लिक अंडरस्टैंडिंग, 29(3), 306-318.
27. विग, एन. जे. (1988). टेक्नोलॉजी, फिलॉसफी, और राज्य: एक ओवरव्यू। टेक्नोलॉजी और पॉलिटिक्स, 8-32.
28. व्हिटेकर, जे. एल. (2000). दो भारतीय महाकाव्यों में दिव्य हथियार और तेजस। इंडो-ईरानी जर्नल, 43(2), 87-113.
29. यंग, के.के. (2004). हिंदू धर्म और सामूहिक विनाश के हथियारों की नैतिकता। एस.एच. हाशमी और एस.पी. ली (एडिटर) एथिक्स एंड वेपन्स ऑफ मास डिस्ट्रक्शन: रिलीजियस एंड सेक्युलर पर्सपेक्टिव्स। (पेज 277-307)। न्यूयॉर्क: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

दलित साहित्य में प्रेम का चित्रण

रश्मि*
प्रो. रजत रानी मीनू**

मनुष्य के जीवन में रोटी, कपड़ा और मकान को मूलभूत आवश्यकताएँ माना जाता है, लेकिन वास्तव में प्रेम भी उतना ही जरूरी है। प्रेम के बिना जीवन अधूरा और असंतुलित हो जाता है। यहां तक कि जिसे हम अत्याचारी या असामाजिक व्यक्ति कहते हैं, वह भी प्रेम के बिना नहीं रह सकता। यदि उसके व्यवहार में कठोरता या असामाजिकता दिखाई देती है, तो वह उसकी स्वाभाविक प्रकृति नहीं, बल्कि परिस्थितियों द्वारा थोपी गई स्थिति होती है। प्रेम मनुष्य की एक स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्ति है। यह किसी बाहरी दबाव से नहीं, बल्कि भीतर से उत्पन्न होती है। मनुष्य की विशेषता यह है कि वह केवल अन्य मनुष्यों से ही नहीं, बल्कि प्रकृति, पशु-पक्षियों और निर्जीव वस्तुओं तक से भी जुड़ाव महसूस कर सकता है। यही क्षमता उसे अन्य प्राणियों से अलग और अधिक संवेदनशील बनाती है।

संत रैदास यह संकेत करते हैं कि वेद, कुरान या पुराण जैसे धर्मग्रंथों में उन्हें वह सच्चाई सहज रूप में नहीं मिली, जिसकी उन्हें तलाश थी। इसलिए वे सलाह देते हैं कि किसी भी चीज़ को केवल ऊपर-ऊपर से परखने या उसके बाहरी रूप में उलझने के बजाय उसके भीतर के सार को खोजा जाए। इसी संदर्भ में वे 'निज कन' की बात करते हैं, जिसका अर्थ केवल अन्न का दाना नहीं, बल्कि अपने भीतर के अनुभव, अपने सच्चे 'स्व' से भी है।

'थोथो जिनि पछोरो रे कोई। पछोरो जामे निज कन होई।।

'रैदास के अनुसार, वही ज्ञान सार्थक है जिसमें व्यक्ति अपने अनुभवों की सच्चाई को पहचान सके। जिस तरह एक दर्पण तभी उपयोगी है जब उसमें अपना चेहरा दिखाई दे, उसी तरह वह साहित्य या ज्ञान भी निरर्थक है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन और अनुभवों का प्रतिबिंब न देख सके। यानी 'निज कन' का अर्थ है स्वानुभूति, आत्म-बोध और अपनी सच्चाई से जुड़ाव।

लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इस 'निज कन' की पहचान कैसे हो? क्या केवल ज्ञान या ध्यान के माध्यम से? रैदास इस पर संदेह जताते हैं, क्योंकि ज्ञान और ध्यान कभी-कभी जटिल और समझ से परे भी हो सकते हैं। ऐसे में सही मार्ग कौन बताए?

ज्ञान ध्यान सबही हम जान्यो, बूझों कौन सों जाई।
हम जान्यो प्रेम प्रेमरस जाने, नौ बिधि भगति कराई।।

रैदास का उत्तर है प्रेम। उनके अनुसार प्रेम ही वह माध्यम है जो सभी उलझनों को सुलझा सकता है। प्रेम का अनुभव ही व्यक्ति को अपने भीतर की सच्चाई से जोड़ता है। वे कहते हैं कि उन्होंने ज्ञान और ध्यान के अनेक रूपों को समझने की कोशिश की, लेकिन अंततः यह जाना कि प्रेम ही सबसे बड़ा सत्य है। प्रेम का रस ही व्यक्ति को सच्ची भक्ति और आत्मबोध तक पहुँचाता है।

वर्ण और जाति व्यवस्था मनुष्य से उसका असली 'स्व' छीन लेती है। इसके बदले जो पहचान मिलती है, वह व्यक्ति को अंदर से कमजोर और हीन बना देती है। वह अपने असली अस्तित्व को पहचान ही नहीं पाता और ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ उसके जीवन में उम्मीद बहुत कम रह जाती है। रैदास यह जानते थे

* शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय
** शोध निर्देशक, दिल्ली विश्वविद्यालय

कि उनसे पहले और उनके समय में भी कई लोगों ने जाति व्यवस्था से बाहर निकलने के अलग-अलग रास्ते खोजे थे। वे इन तरीकों की ताकत और उनकी सीमाओं को भी समझते थे। आम तौर पर जाति आधारित हिंसा का जवाब लोग गुस्से और प्रतिहिंसा से देते हैं। जो अपमान और हीनता उन पर थोपी जाती है, उसके जवाब में वे आक्रामक भाषा और व्यवहार अपनाते हैं। इससे उन्हें लगता है कि उन्होंने विरोधी को उसी के तरीके से जवाब दे दिया है। लेकिन रैदास के अनुसार, असल में इससे उलटा होता है। गुस्सा और प्रतिहिंसा, जातिवाद को खत्म नहीं करते, बल्कि उसे और मजबूत करते हैं। यही चीजें जातिवाद को जिंदा रखती हैं। जब संघर्ष करने वाला व्यक्ति थक जाता है या निराश हो जाता है, तो उसे अपना ही संघर्ष बेकार लगने लगता है। यह देखकर आम लोग भी उम्मीद खो देते हैं और जाति व्यवस्था को स्थायी मानकर उसे स्वीकार करने लगते हैं। इससे समाज में असमानता और मजबूत हो जाती है। रैदास प्रेम को एक सकारात्मक और प्रभावी उपाय के रूप में सामने रखते हैं। उनकी प्रेम में डूबी भक्ति भ्रम-पाश का उच्छेद इसीलिए कर पाती है-

अनेक जतन करि टारिये, टारे न टरै भ्रम पास।
प्रेम भगति नहिं ऊपजै, ताते जन रैदास उदास ।।

यह बात आश्चर्यजनक और चिंता की है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच ही जाति, वंश, नस्ल और धर्म के आधार पर गहरे भेद मौजूद हैं। जबकि सभी इंसान समान हैं, फिर भी समाज में इन विभाजनों ने दूरी और भेदभाव को जन्म दिया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है कि आज वही लोग समाज में एकता की बात कर रहे हैं, जिन्होंने खुद ही विभाजन को बढ़ावा दिया है। जो लोग अभी भी जाति की सोच से बाहर नहीं निकल पाए हैं, वे दलित साहित्य की असली भावना को समझ ही नहीं सकते। वे यह भी कहते हैं कि दलित साहित्य मूलतः प्रेम और मानवता का संदेश देता है। यह साहित्य जातिवाद और भेदभाव के खिलाफ खड़ा होता है और समाज में समानता, संवेदना और आपसी जुड़ाव की बात करता है।

प्रेम के लिए सबसे ज़रूरी शर्त स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति पराधीन होता है, उसके प्रति दया तो की जा सकती है, लेकिन सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम तभी संभव है जब दोनों व्यक्ति स्वतंत्र हों और बराबरी के स्तर पर एक-दूसरे से जुड़ें। संत रैदास कहते हैं-

पराधीनता पाप है जानि लेहु रे मीत।
रैदास दास प्राधीन सों कौन करे है प्रीत।।

रविदास की इस स्वीकारोक्ति को समझना चाहिए- 'हम जानौ प्रेम, प्रेम रस जाने'। इस उद्‌घोषणा की प्रतिध्वनि विलक्षण रूप से मार्टिन लूथर किंग जूनियर (1929-1968) के इस कथन में सुनाई पड़ती है- "आइ हैव डिसाइडेड टू लव"- मैंने प्रेम करने का फैसला किया है।

अमेरिका में ब्लैक लोगों के अधिकारों के लिए चला सिविल राइट्स आंदोलन इस विचार पर आधारित था कि सच्चा सामाजिक बदलाव केवल प्रेम और अहिंसा के जरिए ही संभव है। इस आंदोलन में अश्वेतों के साथ-साथ उदार विचार वाले श्वेत लोग भी शामिल हुए, और इसके परिणामस्वरूप कानून में समानता, मताधिकार और दासता के अंत जैसे महत्वपूर्ण बदलाव हुए। विचारकों का मानना था कि इसकी सफलता का कारण इसका प्रेम-आधारित नैतिक दृष्टिकोण था, जिसने पूरे समाज की संवेदनशीलता को जगाया। बाद में एक नई पीढ़ी सामने आई, जिसने इस अहिंसक और सुधारवादी तरीके को पर्याप्त नहीं माना। उसने 'ब्लैक पावर मूवमेंट' के रूप में अधिक आक्रामक और क्रांतिकारी रास्ता अपनाया, जिसका उद्‌देश्य सीधे शक्ति के माध्यम से अधिकार हासिल करना था। इस आंदोलन ने भी समाज को गहराई से प्रभावित किया और कई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल कीं।

लेकिन इस आंदोलन की एक बड़ी कमी यह थी कि इसमें पुरुषवादी सोच हावी थी। इसके नेता भले ही नस्लवाद के खिलाफ थे, लेकिन महिलाओं के प्रति उनके दृष्टिकोण में समानता नहीं थी। उनकी आक्रामकता में

प्रेम और संवेदनशीलता के लिए जगह कम थी, और वे अनजाने में उन्हीं दमनकारी तरीकों का इस्तेमाल कर रहे थे, जिनका वे खुद विरोध करते थे।

भारतीय दलित आंदोलन के प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय है कि आंबेडकर के आंदोलन में स्त्रियों की जो बड़े पैमाने पर भागीदारी थी वह उनके बाद उभरे पैंथर आंदोलन में सिमट क्यों गई। बी. आर. अंबेडकर के आंदोलन में स्त्रियों की भागीदारी बड़े पैमाने पर इसलिए दिखाई देती है क्योंकि उनका आंदोलन सामाजिक सुधार, शिक्षा, समानता और कानूनी अधिकारों पर आधारित था, जिसमें महिलाओं को विशेष रूप से जागरूक और संगठित किया गया। उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा, आत्मसम्मान और अधिकारों को आंदोलन का केंद्रीय हिस्सा बनाया, जिससे महिलाएँ सक्रिय रूप से जुड़ीं। इसके विपरीत, दलित पैंथर आंदोलन की प्रकृति अधिक उग्र, आक्रामक और तात्कालिक प्रतिरोध पर केंद्रित थी, जिसमें नेतृत्व मुख्यतः पुरुषों के हाथ में रहा और स्त्री-विमर्श को उतनी प्राथमिकता नहीं मिली। साथ ही, समाज में मौजूद पितृसत्तात्मक सोच का प्रभाव इस आंदोलन के भीतर भी दिखाई दिया, जिससे महिलाओं की भूमिका सीमित हो गई। पैंथर आंदोलन में संगठित महिला इकाइयों और दीर्घकालिक संरचनाओं का भी अभाव था, जिसके कारण स्त्रियों की व्यापक भागीदारी विकसित नहीं हो सकी।इस प्रकार, जहाँ अंबेडकर का आंदोलन समावेशी और संस्थागत था, वहीं पैंथर आंदोलन अपेक्षाकृत पुरुष-प्रधान और अस्थिर रहा, जिससे महिलाओं की भागीदारी सिमट गई।

दलित पैंथर के निर्माण के बाद दलित स्त्रियों की संगठित और स्वतंत्र आवाज स्पष्ट रूप से उभरने में लगभग दो से तीन दशक लगे। 1970 के दशक में पैंथर आंदोलन शुरू हुआ, लेकिन 1990 के दशक तक आते-आते दलित स्त्रियों ने अपने अलग संगठनों, लेखन और आंदोलनों के माध्यम से अपनी विशिष्ट पहचान और मुद्दों जैसे जाति और लिंग के संयुक्त उत्पीड़नको प्रमुखता से उठाना शुरू किया।

दलित स्त्रीवाद ने उन अनेक महत्वपूर्ण सवालों को फिर से सामने लाया, जो लंबे समय तक नजरअंदाज होते रहे थे। इसने आंदोलन के भीतर प्रेम और मानवीय संवेदनाओं को भी एक नैतिक आधार के रूप में पुनः स्थापित किया, जिससे संघर्ष केवल विरोध तक सीमित न रहकर रिश्तों और समानता पर भी केंद्रित हुआ। इससे मुक्ति का आंदोलन अधिक व्यापक, समावेशी और बहुआयामी बन सका। दिलचस्प बात यह है कि प्रेम जैसे तत्व के शामिल होने से आंदोलन की क्रांतिकारी धार कमजोर नहीं पड़ी, बल्कि उसे एक नई गहराई और मानवीय दिशा मिली। साथ ही, दलित स्त्री आंदोलन ने सुधारवादी परंपराओं, सामाजिक जागृति और क्रांतिकारी विचारों के श्रेष्ठ पहलुओं को एक साथ जोड़कर एक नई दृष्टि विकसित की। इसी प्रक्रिया में संत रविदास और बी.आर अंबेडकर जैसे महान चिंतकों के योगदान को भी नए नजरिए से समझने और पुनर्मूल्यांकन करने का अवसर मिला। इस तरह दलित स्त्रीवाद ने न केवल नए मुद्दे उठाए, बल्कि पूरे आंदोलन की सोच और दिशा को भी अधिक समृद्ध और व्यापक बनाया।

प्रेम का साहित्य बहुत कम दलित साहित्यकारों ने लिखा है, संभवत: न के बराबर। इसका कारण यह नहीं है कि दलित साहित्य लिखने वालों ने प्रेम नहीं किया। वे प्रेम करते हैं, लेकिन जीवन की जिन विसंगतियों से वे जूझते हैं, उनमें उनका प्रेम दब जाता है, या छूट जाता है। इससे वे उसका इज़हार नहीं कर पाते। दलित साहित्य में 'प्रेम' का चित्रण पारंपरिक मुख्यधारा (सनातनी) साहित्य से गहरा भिन्न और अधिक यथार्थवादी है। जहाँ हिंदी के छायावादी या रीतिकाल के साहित्य में प्रेम अक्सर कल्पना, सौंदर्य और विरह के इर्द-गिर्द घूमता रहा, वहीं दलित लेखन में प्रेम 'जाति' की कठोर दीवारों से टकराकर परिभाषित होता है।

दलित लेखन में प्रेम केवल निजी या रोमांटिक भावना नहीं है, बल्कि यह जाति, पितृसत्ता और सामाजिक भेदभाव जैसी दीवारों को चुनौती देने वाला एक सामाजिक संघर्ष है। इसमें प्रेम का आधार देह या सौंदर्य नहीं, बल्कि मानवीय गरिमा और पहचान है, जहाँ साथी को इंसान के रूप में स्वीकार किया जाता है। अंतरजातीय संबंधों में सवर्ण और दलित के बीच पाखंड और सामाजिक दबावों का द्वंद्व उभरता है, और प्रेम

सामाजिक अन्याय को बेनकाब करने का माध्यम बनता है। इसके साथ ही पारिवारिक और सामुदायिक प्रेम, संघर्ष और त्याग की मिट्टी में जन्म लेता है, जबकि प्रेम स्वयं एक प्रतिरोध और स्वतंत्रता का प्रतीक बनकर पुरानी वर्जनाओं को तोड़ता है। इसलिए दलित साहित्य में प्रेम केवल भावुकता नहीं, बल्कि समानता, न्याय और सामाजिक यथार्थ की तलाश का एक विवेकपूर्ण और परिवर्तनकारी रूप है।

प्रेम कविताएं बहुत कम दलित कवियों ने लिखी हैं, संभवत: न के बराबर। इसका कारण यह नहीं है कि दलित कवि प्रेम नहीं करते। वे प्रेम करते हैं, लेकिन जीवन की जिन विसंगतियों से वे जूझते हैं, उनमें उनका प्रेम दब जाता है, या छूट जाता है। इससे वे उसका इज़हार नहीं कर पाते। डॉ. नीलम उन कवियों में हैं, जिन्होंने अपने प्रेम को शब्द दिए हैं। 'यही तो मोहब्बत है', 'तुम', 'चलो दूर यहां से', 'दोस्त', 'सातवां आसमान' उनकी कुछ ऐसी कविताएं हैं, जिनमें प्रेम गूंजता है, आध्यात्मिक नहीं, बल्कि लौकिक, जिसके बारे में ज़फ़र ने कहा है- "अजल से मुहब्बत की दुश्मन है दुनिया/ कभी दो दिलों को ये मिलने न देगी।" लेकिन नीलम की प्रेम कविता में हिज्र नहीं है, मिलन है, समर्पण है। जब दिल मोहब्बत में होता है, तो महबूब दूसरे आलम में होता है, मोहब्बत ही उसका धर्म होता है, और मौजूदा दुनिया बहुत छोटी हो जाती है। 'यही तो मोहब्बत है' में कवयित्री कहती है-

यही तो मोहब्बत है
यही तो छटपटाहट है
यही तो तड़पन है
यही तो कशिश है
जो जिंदगी को सालती है
जैसे-जैसे जवां होती है मोहब्बत
वैसे-वैसे दिल का सुकून बढ़ता जाता है
और मोहब्बत अपनी ऊंचाई पर जाती है पहुंच
जहां से दुनिया छोटी लगने लगती है
और मोहब्बत बड़ी।
इसलिए मोहब्बत ईमान है,
मोहब्बत धर्म है।

(नीलम, सबसे बुरी लड़की (कविता-संग्रह), 2020, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, पृ. 30)

मोहब्बत सिर्फ महबूब से ही नहीं होती, बल्कि उन बलाओं से भी होती है, जो महबूब के कारण फिज़ाओं में पैदा होती हैं। नीलम ने 'दोस्त' कविता में इसे बहुत ही खूबसूरत ढंग से व्यक्त किया है। यथा-

मुझे पता है तू बेखबर नहीं
फिज़ा की दहकती अंगारों की लपटें
तुझ तक भी पहुंच रही हैं
लेकिन तेरी दोस्ती
इतनी प्यारी है दोस्त
कि मैंने लपटों से भी
मोहब्बत करना सीख लिया है।

(नीलम, सबसे बुरी लड़की (कविता-संग्रह), 2020, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, पृ. 79)

दलित प्रेम कहानी से आशय उस तरह की रचना से है, जहाँ प्रेम केवल निजी भाव नहीं, बल्कि सामाजिक बदलाव का माध्यम बनता है। जब दलित स्त्री इस विमर्श के केंद्र में आती है, तो प्रेम की चर्चा स्वतः

ही जाति और पितृसत्ता के उन्मूलन के सवालों से जुड़ जाती है। इसके साथ वर्ग और पारिवारिक पृष्ठभूमि जैसे तत्व भी इस कथा के महत्वपूर्ण हिस्से बन जाते हैं। ऐसे में वही दलित रचनाकार प्रभावी प्रेम कहानियाँ लिख पाते हैं, जो इन जटिल और आपस में जुड़े सरोकारों को समझते और अपने लेखन में समाहित करते हैं।अब प्रेम कहानी केवल दो व्यक्तियों के संबंध की कहानी नहीं रह गई है, बल्कि इसमें "बनती हुई स्त्री" की पहचान, उसके व्यक्तित्व का सम्मान करने वाला संवेदनशील पुरुष, अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करती दलित स्त्री की कठिनाइयाँ, अपने भीतर के संस्कारों से जूझता दलित युवा, और स्त्री को सीमित करने वाली नई सामाजिक ताकतों की पहचान ये सब अनिवार्य तत्व बन गए हैं। सीमोन द बोउवार लिखती हैं कि स्त्री और पुरुष के लिए प्रेम शब्द का अर्थ अलग-अलग होता है। स्त्री का प्यार शर्तहीन होता है। पुरुष यदि किसी से प्यार करता है तो प्रतिदान में वह उससे भी प्रेम पाना चाहता है।

सुशीला टाकभौरे की 'वह नज़र' और कावेरी की 'अंतर्द्वंद्व' जैसी कहानियाँ एक समान प्रवृत्ति को सामने लाती हैं, जहाँ प्रेम को पारंपरिक विवाह संस्था की सीमाओं से बाहर जाकर परखा गया है। इन रचनाओं में एक साहसिक प्रयोगशीलता दिखाई देती है, जो दलित प्रेम कहानी के दायरे को व्यापक बनाती है।'वह नज़र' में एक कॉलेज प्रोफेसर और उसके छात्र के बीच ऐसा भावनात्मक संबंध दिखाया गया है, जो सामान्य आकर्षण से आगे बढ़कर है, लेकिन जिसे किसी औपचारिक नाम या परिभाषा में बाँधने की कोशिश नहीं की गई। यह कहानी प्रेम को निर्बंध और स्वतंत्र अनुभव के रूप में प्रस्तुत करती है। वहीं 'अंतर्द्वंद्व' में शोध छात्रा शालु और एक विवाहित आदिवासी अधिकारी किस्कू के बीच पनपते प्रेम को केंद्र में रखा गया है। शालु प्रेम को स्वाभाविक और शुद्ध अनुभूति मानती है, जिसे समाज ने अनावश्यक बंधनों में जकड़ दिया है। शुरुआत में किस्कू इस भाव से संकोच करता है, लेकिन अंततः वह इस रिश्ते को एक आध्यात्मिक रूप देते हुए शालु को सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से स्वीकार करता है।संक्षेप में, ये कहानियाँ प्रेम को सामाजिक नियमों से परे एक स्वतंत्र, जटिल और मानवीय अनुभव के रूप में प्रस्तुत करती हैं, जो दलित साहित्य में नए आयाम जोड़ती हैं।

हेमलता महिश्वर की कहानी 'राग की रागी रागिनी' दो अलग-अलग जातिगत पृष्ठभूमियों से आए युवाओं के प्रेम की कथा है। समीर, जो ब्राह्मण परिवार से है, और रागिनी, जो शूद्र परिवार से आती है, विश्वविद्यालय के खुले माहौल में एक-दूसरे के करीब आते हैं, जहाँ उनकी जातीय पहचान पीछे छूट जाती है। उस समय समाज में जाति के भीतर ही प्रेम और विवाह की बात करने वाले कठोर विचार भी मौजूद हैं, जिनकी छाया कहानी में दिखाई देती है।परिवार और समाज के विरोध के बावजूद दोनों साथ रहने का निर्णय लेते हैं। समीर को 'राग' नाम मिलता है और आगे चलकर वह डिप्टी कलेक्टर बनता है, जबकि रागिनी भी एक प्रशासनिक अधिकारी बनती है। लेकिन कहानी एक दुखद मोड़ लेती है, जब समीर के पिता बदले की भावना से कदम उठाते हैं और समीर मानसिक रूप से टूटकर एक मनोचिकित्सालय में गुमनामी का जीवन जीने को मजबूर हो जाता है। इस तरह कहानी एक मार्मिक और अप्रत्याशित अंत के साथ समाप्त होती है, जो प्रेम और सामाजिक यथार्थ के टकराव को गहराई से उजागर करती है।

अनिता भारती की कहानी 'नीला पहाड़ लाल सूरज' एक ऐसे महत्वपूर्ण लेकिन अक्सर उपेक्षित मुद्दे को उठाती है जो ग्लानि बोध के जरिए आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया। जहाँ अस्मिता विमर्श में अब तक अधिकार-बोध केंद्र में रहा और 'दूसरे' के लिए जगह कम थी, वहीं इस कहानी में लेखिका ने ग्लानि को एक नई वैचारिक संभावना के रूप में प्रस्तुत किया है।कहानी का नायक समर, जो गैर-दलित है, अपनी पत्नी प्रज्ञा से प्रेम विवाह करता है, लेकिन समय के साथ उसके भीतर के जातिगत और पितृसत्तात्मक संस्कार उभरने लगते हैं। प्रज्ञा की स्वतंत्रता, सामाजिक सक्रियता और व्यक्तित्व उसे असहज करने लगते हैं, यहाँ तक कि वह उस पर संदेह भी करने लगता है। बाद में, विप्लव नामक पात्र के आने से समर आत्ममंथन करता है और अपने व्यवहार पर गहरी ग्लानि महसूस करता है।यह कहानी दिखाती है कि मुक्ति के विमर्श में ग्लानि बोध एक महत्वपूर्ण भूमिका

निभा सकता है, क्योंकि इससे जड़ वैचारिक ढाँचे टूटते हैं और आत्म-आलोचना के जरिए वास्तविक बदलाव की संभावना पैदा होती है।

दलित साहित्य में प्रेम का चित्रण केवल भावनात्मक या निजी अनुभव नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ से गहराई से जुड़ा हुआ है। यहाँ प्रेम जाति, पितृसत्ता, वर्ग और असमानता की संरचनाओं से टकराते हुए उभरता है और इस प्रक्रिया में वह समानता, गरिमा और स्वतंत्रता की तलाश का माध्यम बन जाता है। संत रविदास, बी. आर. अंबेडकर और ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे विचारकों और लेखकों की परंपरा में प्रेम को एक नैतिक और परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में देखा गया है, जो जाति-व्यवस्था और सामाजिक विभाजनों को चुनौती देता है। समकालीन दलित लेखन, विशेषकर दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण, ने प्रेम को और अधिक व्यापक, बहुआयामी और मुक्तिकामी रूप दिया है। अनिता भारती, सुशीला टाकभौरे और हेमलता महिश्वर जैसी रचनाकारों की कृतियों में प्रेम सामाजिक बंधनों से परे जाकर आत्मबोध, समानता, ग्लानि, प्रतिरोध और मानवीय संबंधों की नई व्याख्या करता है। इस प्रकार, दलित साहित्य में प्रेम केवल कथा का विषय नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और मानवीय मुक्ति का एक सशक्त साधन बनकर उभरता है।

महर्षि दयानन्द जीवनाधृत 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्यः एक समीक्षात्मक अध्ययन

प्रेमचन्द्र*
डॉ. प्रचेतस्**

स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन को आधार बनाकर अनेकों महाकाव्य लिखे गए है। उन सभी महाकाव्यों में से हम इस शोधपत्र में पंण्डित अखिलानन्द शर्मा द्वारा रचित 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन किया जा रहा है।

यह महाकाव्य पण्डित अखिलानन्द शर्मा द्वारा रचित है। यह महाकाव्य 21 सर्गों में निबद्ध है। यह शास्त्र निर्दिष्ट महाकाव्य है। इसकी समग्र श्लोक संख्या 2348 है। यह महाकाव्य सर्वप्रथम 1910 ई0 में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत महाकाव्य में शान्त रस की प्रधानता है, परन्तु जहाँ–जहाँ पर शास्त्रार्थ इत्यादि का वर्णन हुआ है, वहाँ वीर रस अंग बन गया है।

दिग्विजयम् महाकाव्य की कथावस्तु–

प्रथम सर्ग– पं0 अखिलानन्द शर्मा ने मंगलकामना के साथ नायक महर्षि दयानन्द का उल्लेख करके महाकाव्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना किया है। महर्षि के यश का वर्णन करने के बाद कल्पना प्रसूत देवताओं से महर्षि के बल की बहुलता एवं महर्षि के उपकार का उल्लेख किया गया है। काव्य निर्माण के बाद उपसंहार तथा कवि के आशीर्वचनों के बाद प्रथम सर्ग समाप्त किया।

द्वितीय सर्ग– इस सर्ग में नायक के जन्म, नामकरण, बाल लीला, अक्षराभ्यास तथा उपनयन संस्कार का वर्णन किया।

तृतीय सर्ग– स्वामी जी विद्याध्ययन दृढ़निश्चय के साथ प्रारम्भ होता है। इस सर्ग में महर्षि का गृह त्यागकर, काषाय वस्त्रधारण करना सिद्धपुर गमन पिताजी द्वारा पकड़ा जाना। पुनः भाग जाना, संन्यास ग्रहण करना, योगशास्त्र का अभ्यास शास्त्रों का पूर्ण अध्ययन हरिद्वार यात्रा करना, हिमालय पर भ्रमण करना, नर्मदा भ्रमण, मथुरा आगमन, गुरु विरजानन्द से विद्या प्राप्त करना, गुरु दक्षिणा देना आशीर्वाद प्राप्त करना इत्यादि का वर्णन है।

चतुर्थ सर्ग– इस सर्ग में महर्षि दयानन्द द्वारा धर्म पर दिग्विजय प्राप्त करने की इच्छा से चारों दिशाओं में भ्रमण करने का वर्णन प्राप्त होता है।

पंचम सर्ग– महर्षि दयानन्द के द्वारा दिग्विजय का आरम्भ हेतु सर्वप्रथम आगरा जाना वैदिक धर्मों पर सन्ध्या पुस्तक की रचना करना, रोग शान्ति हेतु नित्य यौगिक प्रक्रियाओं का प्रयोग करना तथा अनेक स्थलों पर घूमते हुए उन सभी स्थलों पर जैन, भागवत, वैष्णव आदि मतों का खण्डन किया। अंग्रेजों के अधिकारी से गोरक्षा पर बातचीत किया। कर्णवास में राव कर्णसिंह से शास्त्रार्थ तथा पान में विष देने की घटना का वर्णन इसी सर्ग में प्राप्त होता है।

षष्ठ सर्ग– उत्तर प्रदेश के बहुत स्थानों पर भ्रमण करते हुए कानपुर, काशी आदि प्रदेशों की यात्रा किया। मूर्तिपूजा पर पण्डितों से शास्त्रार्थ, पण्डितों को पराजित तथा स्वामी दयानन्द की विजय के वर्णन के साथ इस सर्ग की समाप्ति हो जाती है।

सप्तम सर्ग– महाकुम्भ के समय महर्षि का प्रयाग जाना, पुनः विन्ध्यांचल, पाटलिपुत्र, भागलपुर, वर्धमान होते हुए कलकत्ता की यात्रा करना, वहाँ से वापस आकर भागलपुर, छपरा होते हुए मथुरा आ गये। फिर बहुत स्थानों में घूमते हुए बम्बई पहुँच गये। यहाँ पर आर्य समाज की स्थापना किया।

अष्टम सर्ग– यह सर्ग महर्षि दयानन्द द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थों के विषयवस्तु का उल्लेख किया है।

नवम सर्ग– पं0 अखिलानन्द शर्मा ने इस सर्ग में नाटक के रूपक के द्वारा नायक के यश का उल्लेख किया है।

दशम सर्ग– नाटक के रूपक की कथा इस सर्ग में पूर्ण होता है।

एकादश सर्ग– महर्षि का पंजाब जाना इस सर्ग का प्रमुख विषय है।

* शोध–छात्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
** शोध–निर्देशक सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

द्वादश सर्ग– इस सर्ग में पंजाब के अनेक कस्बों में धर्म प्रचार का प्रयास किया।
त्रयोदश सर्ग– लाहौर से वापस आकर रूड़की, अलीगढ़, दिल्ली, अजमेर आदि स्थानों पर प्रचार–प्रसार करते रहे, स्वामी के यात्रा के साथ यह सर्ग पूर्ण हुआ।
चतुर्दश सर्ग– इस सर्ग में राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा बम्बई तक की यात्रा इस सर्ग में दिखाया गया है।
षोड़श सर्ग– स्वामी जी द्वारा वरासत (स्वीकार पत्र) का लेख तथा इनके उद्देश्य नियम, अधिकारी एवं समूह के वर्णन के साथ यह सर्ग समाप्त होता है।
सप्तदश सर्ग– इस सर्ग में महर्षि द्वारा नये विचार का निराकरण तथा यहाँ से जोधपुर जाने का प्रस्ताव निश्चित करना यह मुख्य घटना है।
अष्टादश सर्ग– स्वामी जी का जोधपुर जाना तथा उस जगह की घटना के साथ इस सर्ग की समाप्ति हो जाती है।
एकोनविंशति सर्ग– रूग्ण, इलाज तथा अन्त में निधन और अन्त्येष्टि के वर्णन के साथ इस सर्ग की समाप्ति हो जाती है।
विंशति सर्ग– पं0 अखिलानन्द ने स्वामी जी के दुःख में परमेश्वर को उलाहना दिया है। अनेक अद्भुद विचार तथा अजीब–अजीब तर्कों से युक्त इस सर्ग में पं0 अखिलानन्द शर्मा का द्योतक है।
एकविंशति सर्ग– स्वामी जी दूसरे लोक जनों के बाद प्रतिनिधि सभा की स्थापना का वर्णन ग्रन्थकार ने अपने महाकाव्य में नायक के अद्भुत गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तुत किया है। अन्त में कवि ने अपने वंश का वर्णन करके इस सर्ग की समाप्ति की घोषणा की है।

पं0 अखिलानन्द शर्मा द्वारा रचित– दयानन्ददिग्विजयम् महाकाव्य में भाव पक्ष की प्रधानता से परिपूर्ण महाकाव्य है। पं0 अखिलानन्द शर्मा में काव्य लिखने की कला ही नहीं थी बल्कि काव्य के विषय में पूर्णतः ज्ञान भी था। प्रस्तावना में कवि ने विस्तृत वर्णन किया है। कवि के मतानुसार वर्तमान समय के महाकाव्यों से काव्य का मुख्य प्रयोजन है। वैदिक धर्म पर प्रकाश डालना था, किन्तु यह सभी कवियों में सिद्ध नहीं होता। इसके प्रतिकूल धर्म विरूद्ध प्रेम (शृंगार) वर्णन में ही अधिकांश काव्यशास्त्री व्यस्त हैं।[1] महाकवि कालिदास, श्रीहर्ष, पं0 राज जगन्नाथ इत्यादि कवियों द्वारा लिखे गये महाकाव्यों में वैदिक विचार–विमर्श का अभाव पाया जाता है। कवि के अनुसार वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त संस्कृत महाकाव्यों में मानव को धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने वाले बहुत कम ही ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।[2] वेदाङ्गों में पिंगल छन्द शास्त्र की गणना की गई है। अतः वेदोक्त कामों का वर्णन महाकाव्य में होना चाहिए। वर्तमान कवियों में इस प्रकार वर्णन न करके, सम्भोग शृंगार का वर्णन करते है। अपने काव्य प्रतिभा अनावश्यक खर्च किया[3] अर्थात् इन विद्वानों ने देवी–देवताओं के सूरत वर्णन से अपने महाकाव्य में मंगलाचरण को नहीं छोड़ा है।[4]

महाकाव्य में काव्यतत्वों का समावेश–

पं0 अखिलानन्द शर्मा संस्कृत साहित्य के महापंडित थे, इस महाकाव्य में पग–पग पर काव्य लक्षणों की चर्चा एवं उसके उदाहरण देखने को मिलते हैं। काव्य के आरम्भ में मंगलाचरण के साथ ही अनुबन्ध चतुष्टय का वर्णन जिस प्रकार प्राप्त होता है, इससे ही सम्पूर्ण काव्य पर एक दृष्टि पड़ जाती है।

यथा–

प्रणम्य भक्त्या परमेश्वरं परं
दयालुमाकारविशेषनिर्गतम।
मयादयानन्दयशोविभूषितं
विरच्यते काव्यमिदं विलोक्यताम्[5]।।1/1

इसी सर्ग के अन्त में इक्कीस सर्गों वाला महाकाव्या की चर्चा करते समय कवि कहते हैं– यह सरल काव्य जगत में रत्न के समान होगा। अन्य कवियों के काव्य इसके आगे फीके पड़ जायेंगे।

महाकाव्य नायक को संकेत करते हुए कवि स्वतः स्पष्ट रूप से कहता है। इस महाकाव्य के नायक स्वामी दयानन्द धीरोदात्त नायक है।

यथा–

"तस्मेवंविधव्रत्तस्य धीरोदात्तस्यधीमतः।"[6] 2/1

अतः महाकाव्य के नायक स्वामी दयानन्द धीरोदात्त के रूप में स्पष्ट रूप से सिद्ध होते हैं।

रस विचार–

दयानन्द दिग्विजयम् महाकाव्य में प्रमुख रस शान्त है। इस महाकाव्य का नायक एक तपस्वी है। स्वामी जी इतने दयालु स्वभाव के थे कि अपने विषदाता को भी क्षमा कर दिया, क्योंकि जगत की रक्षा ही नायक जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है। इसी प्रसंग में शान्त रस का उदाहरण है।

यथा–

निवार्य तं बन्धनतः स योगी
ययावितोबिल्ववनं प्रशस्तम्।
महर्षयो यत्र फलाशनेन
योगानलभ्यानलभन्सुखेन।[7] 5/9

अर्थात् स्वामी जी उस दिन से अन्न खाना छोड़कर फल इत्यादि का सेवन करने लगे और उस स्थान को भी छोड़ दिया।

महाकाव्य में प्रकृति वर्णन–

इस महाकाव्य में बहुत स्थलों पर प्रकृति वर्णन भी बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। द्वितीय सर्ग के आरम्भ में टंकारा नामक जन्म स्थल के वर्णन में वन में नृत्य करते हुए मोर, भारी मात्रा में गौवें, कूप वापी, जलाशय इत्यादि का सुन्दर चित्र मिलता है।

यथा–

वापीकप तड़ागेभ्यस्तोयहरणहेतवे।
गताः प्रेतिपथं यत्र रमन्ते तोयहारिका।।[8] –2/6, पृ0 14

यहाँ प्रकृति वर्णन की दशा में बावड़ी, कूप, सरोवर से जल लाने का सुन्दर वर्णन है।

महाकाव्य में अलंकार का प्रयोग–

महाकाव्य में अलंकार का सुन्दर प्रयोग कुछ स्थानों पर मिलता है। अलंकार काव्य का बाह्य भाग को सुशोभित करता है। इसीलिए काव्यकारों ने कहा है कि कविताओं एवं वनिताओं की शोभा अलंकार से होती है। इस महाकाव्य में अलंकारों का प्रयोग कुछ जगत प्राप्त होते हैं।

अनुप्रास अलंकार का उदाहरण–

गणोगुणानां गणनां शतैर्वृतः[9] 1/9

श्लेष अलंकार का उदाहरण–

गच्छतो दिनकरस्य वारुणी
मागतस्य च ततो निशाम्पतेः।
पीतिमा समवदत्र वारुणी
पानजं किमु फलं भुवस्तले।[10] 18/71

इस पद्य में वारूणी शब्द से सुन्दरता को दिखलाई गयी है।

उपमा अलंकार– अग्नि और जल के समान दुर्जन और सज्जनों के समान वैर बताया गया है।

जलाहुताशनयोरिव वैदिके
तदितरे पथि यद्गमनं स्वतः।[11] 4/19

महाकाव्य में छन्द प्रयोग–

काव्यशास्त्रीय लक्षणों के मतानुसार वस्तुतः सभी छन्द का प्रयोग महाकाव्य में किया गया है। प्रत्येक सर्ग में मुख्य रूप से एक या एक से अधिक छन्दों का प्रयोग किया गया है। सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन भी सुन्दर ढंग से किया गया है। इस महाकाव्य में वंशस्थ 2 मालिनी 3 द्रुतविलम्बित 4 वसन्ततिलका 5 पुष्पिताग्रा 6 उपेन्द्रवज्रा, 7. उपजाति, 8. मालिनी, 9. गीति, 10. शार्दूलविक्रीडित, 11. मन्दाक्रान्ता, 12 शिखरिणी इत्यादि छन्दों का सुन्दरता से प्रयोग किया गया है।

यथा–

वंशस्थ– **न विश्वमध्येनिखिलागुणाः क्वचि**
द्भवन्तिनित्यंमनुजेविधेर्वशात।
इमं परीवादलवंनिनीषवो
गुणा यदीयं वपुरा पुरादरात्।[12] 1/18

अनुष्टुप–

मूलस्य धर्मरूपस्य वृद्धिमुद्दिश्यकल्पिता।
अन्वर्थतामुपययौ मूलशंकर कल्पना।[13] 2/40

पं0 अखिलानन्द शर्मा ने छन्दों का बहुत शोभनीय तरीके से अपने महाकाव्य में प्रयोग किया है।

निष्कर्ष–

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से परिपूर्ण महाकाव्य है। इस महाकाव्य में काव्यों के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। नायक के भेद से धीरोदात्त नायक है, रसों का भी बहुत स्थलों पर प्रयोग किया गया है। यद्यपि महाकाव्य का मुख्य रस शान्त है। कुछ स्थानों पर शास्त्रार्थ जहाँ–जहाँ होता है वहाँ पर वीर रस का भी प्रयोग किया गया है।

सन्दर्भ–

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनीपरक संस्कृत–काव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ0 धर्मवीर, भूमिका, पृ0 15
2. महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनीपरक संस्कृत–काव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ0 धर्मवीर, भूमिका, पृ0 15
3. वही, पृ0 16
4. वही, पृ0 16
5. दयानन्द दिग्विजयम् महाकाव्य– पण्डित अखिलानन्द शर्मा, श्लोक–1/1, पृ0 1
6. वही, श्लोक–2/1, पृ0 13
7. वही, श्लोक–5/92
8. वही, श्लोक–2/6, पृ0 14
9. वही, श्लोक–1/9, पृ0 3
10. वही, श्लोक–18/11, पृ0 516
11. वही, श्लोक–4/19, पृ0 51
12. वही, श्लोक–1/18
13. वही, श्लोक–2/40
14. दयानन्द दिग्विजय महाकाव्य का समालोचनात्म अध्ययन– डॉ0 प्रदीप कुमार चतुर्वेदी, हितकारी प्रकाशन समिति, हिण्डौन सिटी, राजस्थान, संस्करण–2019
15. आर्योदयकाव्यम्– गङ्गा प्रसाद उपाध्याय, कला प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण–1971
16. श्री दयानन्दचरित महाकाव्यम्– रमाकान्त उपाध्याय, अमर प्रिटिंग प्रेस, विजय नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण

◂◂ ▸▸

कुम्भ मेले के दौरान प्राचीन परंपराओं को संरक्षित करने में नागा साधुओं की भूमिका

रविकांत यादव*
प्रो. पवन कुमार यादव**

सारांश

यह अध्ययन कुंभ मेले के समकालीन ढांचे के भीतर वैदिक परंपराओं की सुरक्षा और उन्हें निरंतरता प्रदान करने में **नागा साधुओं** की महत्वपूर्ण भूमिका का अन्वेषण करता है। सांसारिक सुखों के त्याग और अपनी विशिष्ट शारीरिक उपस्थिति–जैसे भस्म से ढका शरीर और जटाधारी स्वरूप–के लिए पहचाने जाने वाले नागा साधु भारत के प्राचीन आध्यात्मिक और युद्ध कौशल के इतिहास की एक जीवंत कड़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह शोध इस बात का परीक्षण करता है कि कैसे ये तपस्वी मौखिक परंपराओं, अनुष्ठानिक प्रोटोकॉल और **शास्त्र पूजा** के कठोर पालन के माध्यम से **"सनातन धर्म" के संरक्षक** के रूप में कार्य करते हैं। अखाड़ा प्रणाली के संरचित पदानुक्रम और **'शाही स्नान'** के प्रतीकात्मक महत्व का विश्लेषण करते हुए, यह शोध पत्र तर्क देता है कि नागा साधु केवल कुंभ मेले में भाग नहीं लेते, बल्कि इसकी सांस्कृतिक प्रामाणिकता के प्राथमिक आधार स्तंभ के रूप में कार्य करते हैं। वैश्वीकरण और व्यावसायीकरण के इस दौर में सदियों पुरानी तपस्या के प्रति उनकी अडिग निष्ठा सांस्कृतिक प्रतिरोध के एक रूप में कार्य करती है जो यह सुनिश्चित करती है कि अखाड़ा प्रणाली का गूढ़ ज्ञान अक्षुण्ण बना रहे। इसके अतिरिक्त, यह अध्ययन लाखों तीर्थयात्रियों पर उनकी उपस्थिति के समाजशास्त्रीय प्रभाव की जांच करता है और यह दर्शाता है कि उनका प्रत्यक्ष "वैराग्य" किस प्रकार आध्यात्मिक सामूहिक चेतना को सुदृढ़ करता है। अंततः यह शोध पत्र निष्कर्ष निकालता है कि नागा साधु कुंभ मेले की संरचनात्मक अखंडता के लिए अनिवार्य हैं। वे ऐतिहासिक वैदिक परंपराओं और आधुनिक धार्मिक परिदृश्य के बीच की खाई को पाटते हैं, जिससे दुनिया के सबसे बड़े शांतिपूर्ण समागमों में से एक की पवित्रता सुरक्षित रहती है।

कूटशब्द : कुम्भ मेला, नागा साधु, अखाड़ा, शाही स्नान, वैदिक परंपरा, अनुष्ठानिक प्रोटोकाल, वैश्वीकरण, तीर्थयात्री

प्रस्तावना

यूनेस्को (UNESCO) द्वारा 2017 ई. मे मानवता की 'अमूर्त सांस्कृतिक विरासत' के रूप में मान्यता प्राप्त कुंभ **मेला** दुनिया में तीर्थयात्रियों के सबसे बड़े शांतिपूर्ण समागम के रूप में खड़ा है।[1] हालाँकि यह आयोजन आस्था का एक विशाल प्रदर्शन है लेकिन इसका संरचनात्मक और आध्यात्मिक केंद्र नागा साधुओं दशनामी अखाड़ों के योद्धा-तपस्वियों–द्वारा संचालित होता है। सांसारिक वस्त्रों के त्याग, भस्म से ढके शरीर और भगवान शिव के प्रति अपनी प्रखर भक्ति के लिए प्रसिद्ध नागा साधु केवल प्रतीकात्मक आकृतियाँ नहीं हैं; वे एक ऐसी सामाजिक-धार्मिक वंशावली के प्राथमिक संरक्षक हैं जो एक सहस्राब्दी से अधिक पुरानी है।[2]

8वीं शताब्दी ईस्वी में आदि शंकराचार्य द्वारा 'सनातन धर्म' की रक्षा के लिए स्थापित अखाड़ा प्रणाली को 'शास्त्र' और 'शस्त्र' दोनों के विशेषज्ञों का एक वर्ग तैयार करने के लिए अभिकल्पित किया गया था। कुंभ मेले के समकालीन परिवेश में नागा साधु वैदिक पुरातनता के लिए एक जीवंत सेतु के रूप में कार्य करते हैं।[3] वे कठोर दीक्षा संस्कारों और 'धुनी' (पवित्र अग्नि) के रखरखाव के माध्यम से मौखिक परंपरा (परंपरा) को संरक्षित

* शोध छात्र, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत
** आर. एम. पी. पी. जी. कालेज, इतिहास विभाग, सीतापुर, उत्तर प्रदेश, भारत

करते हैं, जो प्राचीन वन-निवासी ऋषियों के साथ एक अटूट कड़ी का प्रतिनिधित्व करती है।[4] उनकी उपस्थिति यह सुनिश्चित करती है कि 'शाही स्नान' की अनुष्ठानिक शुद्धता आधुनिक प्रशासनिक सुविधा के बजाय पारंपरिक प्रोटोकॉल द्वारा शासित रहे।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कुंभ मेले में प्राचीन परंपराओं के संरक्षण में नागा साधुओं की भूमिका

कुंभ मेला केवल एक धार्मिक समागम नहीं है, बल्कि यह "मानवता का दुनिया का सबसे बड़ा जमावड़ा" है, जो भारत के वैदिक अतीत और समकालीन आध्यात्मिक पहचान के बीच एक जीवंत सेतु का कार्य करता है। इस भव्य आयोजन के केंद्र में नागा साधु होते हैं–राख से लिपटे, निर्वस्त्र योद्धा-तपस्वी, जिनकी उपस्थिति कुंभ की सघनता और दिव्यता को परिभाषित करती है। प्राचीन परंपराओं को संरक्षित करने में उनकी भूमिका आध्यात्मिक कठोरता, ऐतिहासिक सैन्य कौशल और अखाड़ों की संस्थागत शक्ति का एक जटिल ताना-बाना है।[5]

कुंभ मेले की उत्पत्ति: एक लौकिक विरासत

कुंभ मेले की जड़ें *समुद्र मंथन* की पौराणिक कथा में निहित हैं, जिसका विस्तृत वर्णन पुराणों में मिलता है। कथा के अनुसार, देवताओं और असुरों ने अमरत्व का अमृत प्राप्त करने के लिए क्षीर सागर का मंथन किया था। अमृत कलश (*कुंभ*) के लिए हुए संघर्ष के दौरान, अमृत की चार बूंदें पृथ्वी पर चार स्थानों पर गिरीं: प्रयागराज, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक।[6]

ज्योतिषीय रूप से, यह उत्सव तब आयोजित होता है जब विशिष्ट ग्रहों की स्थिति–मुख्य रूप से बृहस्पति, सूर्य और चंद्रमा–अमृत गिरने के उस लौकिक समय की पुनरावृत्ति करती है। नागा साधुओं के लिए, इन स्थानों पर 'शाही स्नान' केवल एक अनुष्ठान नहीं है, बल्कि इस ब्रहमांडीय ऊर्जा का पुनरुद्धार है, जो यह सुनिश्चित करता है कि पवित्र नदियों की आध्यात्मिक शक्ति आने वाली पीढ़ियों के लिए बनी रहे।[7]

अखाड़ों का गठन: आध्यात्मिक रेजिमेंट

जैसे-जैसे विदेशी आक्रमण बढ़े, हिंदू धर्म की संरचनात्मक अखंडता को महत्वपूर्ण चुनौतियों का सामना करना पड़ा। 8वीं शताब्दी ईस्वी में, दार्शनिक-संत आदि शंकराचार्य ने भटकते हुए भिक्षुओं को अखाड़ों (शाब्दिक अर्थ: कुश्ती का मैदान या सैन्य विद्यालय) के रूप में औपचारिक संस्थाओं में संगठित किया।[8]

उन्होंने सनातन धर्म की रक्षा के लिए इन्हें "आध्यात्मिक सेना" के रूप में स्थापित किया। इन अखाड़ों को मुख्य रूप से तीन शाखाओं में वर्गीकृत किया गया:

1. **शैव अखाड़े** (शिव के अनुयायी, जिनसे मुख्य रूप से नागा साधु संबंधित हैं)।
2. **वैष्णव अखाड़े** (विष्णु के अनुयायी)।
3. **उदासीन अखाड़े** (सिख परंपराओं के अनुयायी)।

अखाड़ों ने वैदिक ज्ञान को संरक्षित करने के लिए एक लोकतांत्रिक लेकिन अनुशासित ढांचा प्रदान किया, जिससे यह सुनिश्चित हुआ कि राजनीतिक अस्थिरता के दौर में भी कुंभ की मौखिक और अनुष्ठानिक परंपराएं अछूती रहें।[9]

साधुओं का उदय: योद्धा-संन्यासी नागा

नागा साधु मध्यकाल के दौरान "योद्धा-तपस्वी" के एक विशिष्ट वर्ग के रूप में उभरे। मंदिरों के विध्वंस और तीर्थ मार्गों में बाधाओं का सामना करने पर, इन साधुओं ने जप माला के साथ-साथ शस्त्र (तलवार और त्रिशूल) भी धारण किए।[10] सामान्य भिक्षुओं के विपरीत, नागाओं ने अपनी साधना के साथ-साथ कठोर शारीरिक प्रशिक्षण भी लिया। वे एक दुर्जेय अर्धसैनिक बल बन गए जिन्होंने स्थानीय और विदेशी आक्रमणकारियों से धर्म की रक्षा की। 16वीं और 17वीं शताब्दी तक, वे अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। यह

युद्धक विरासत आज भी कुंभ के दौरान उनके जुलूसों में पारंपरिक हथियारों के प्रदर्शन और 'पेशवाई' के माध्यम से देखी जा सकती है।[11]

नागा साधु की परम्पराए व प्रथाएं

नागा साधु वैदिक वैराग्य के सबसे कट्टर स्वरूप के जीवंत प्रतीक हैं, जो पूर्ण आध्यात्मिक सत्य के पक्ष में भौतिक जगत का त्याग करने वाली परंपरा को संरक्षित करते हैं। उनकी पहचान के केंद्र में नग्नता (दिगंबर) और पवित्र भस्म (भभूत) धारण करने के अनुष्ठान हैं। "आकाश को ही वस्त्र" (दिगंबर) मानकर निर्वस्त्र रहना सामाजिक मानदंडों, शारीरिक लज्जा और अहंकार से उनके पूर्ण अलगाव को दर्शाता है। यह नग्नता कोई प्रदर्शन नहीं, बल्कि संन्यास की एक गहन घोषणा है, जो सभ्यता के कृत्रिम ढांचों से अछूते, मानव अस्तित्व की आदिम अवस्था में लौटने का प्रतिनिधित्व करती है।[12]

पवित्र भस्म का प्रतीकवाद संभवतः उनके आध्यात्मिक अनुशासन का सबसे प्रभावशाली तत्व है। 'धूनी' (पवित्र अग्नि) से एकत्रित यह राख शरीर की नश्वरता और मृत्यु की अंतिम वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है। अपने शरीर पर भस्म मलकर, नागा साधु यह दृश्य रूप से प्रदर्शित करते हैं कि 'स्व' (आत्मा) शाश्वत है जबकि 'रूप' (शरीर) केवल धूल है। यह अनुष्ठान एक निरंतर ध्यान के रूप में कार्य करता है, जो साधक और भक्त दोनों को 'संसार' के चक्र की याद दिलाता है। उनका आध्यात्मिक अनुशासन अत्यधिक तपस्या और कठोर **ध्यान** द्वारा परिभाषित होता है।[13]

अखाड़ों का संस्थागत बनावट

नागा साधुओं का संस्थागत ढांचा अखाड़ा प्रणाली पर आधारित है, जो एक परिष्कृत सामाजिक-धार्मिक संरचना है और एक सहस्राब्दी से अधिक समय से हिंदू परंपराओं के संरक्षण की रीढ़ रही है। आदि शंकराचार्य द्वारा विभिन्न तपस्वी समूहों को एकजुट करने के लिए स्थापित ये अखाड़े "आध्यात्मिक रेजिमेंट" के रूप में कार्य करते हैं, जिनकी पदानुक्रमित व्यवस्था सैन्य संगठन के समान होती है। उनका संगठन प्राचीन मठ परंम्पराओ और सैन्य अनुशासन का संयोजन है, जो आध्यात्मिक अधिकार और प्रशासनिक नियंत्रण सुनिश्चित करता है । प्रत्येक अखाड़ा एक स्वायत्त संस्था के रूप मे कार्य करता है , जो अपनी संहिता द्वारा शासित होती है और जिसमे महंत , महामंडलेश्वर , आचार्य और नागा साधु जैसे पदानुक्रमित नेता होते है। यह लोकतांत्रिक लेकिन अनुशासित आंतरिक शासन यह सुनिश्चित करता है कि बाहरी राजनीतिक या सामाजिक परिवर्तनों के बावजूद नागा परंपरा के गूढ़ अनुष्ठान, मौखिक इतिहास और विशिष्ट वंशावलियाँ (परंपरा) अक्षुण्ण रहें।[14]

कुंभ मेले के दौरान अखाड़ों की संस्थागत शक्ति उनकी 'पेशवाई' के दौरान सबसे स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जो उनके आगमन का एक भव्य औपचारिक जुलूस होता है। अखाड़े 'शाही स्नान' के समय और क्रम के संरक्षक के रूप में कार्य करते हैं, जो वरिष्ठता और प्रोटोकॉल की एक जटिल प्रणाली है और लाखों तीर्थयात्रियों के बीच व्यवस्था बनाए रखती है। प्रत्येक अखाड़ा अपनी 'धूनी' (पवित्र अग्नि) और 'निशान' (पवित्र ध्वज) रखता है, जो उनके क्षेत्रीय और आध्यात्मिक पहचान के प्रतीक होते हैं। मेले के दौरान वरिष्ठ महंत और आचार्य नए शिष्यों को धर्मशास्त्र की शिक्षा देते हैं, जिससे यह सुनिश्चित होता है कि 'शास्त्र' और 'शस्त्र' के मेल वाली योद्धा-तपस्वी विचारधारा पूरी सटीकता के साथ अगली पीढ़ी को हस्तांतरित हो। सदियों पुरानी एक स्थिर संस्थागत पहचान प्रदान करके, अखाड़े नागा साधुओं को एकांत में भटकने वाले साधुओं से एक ऐसी दुर्जेय सामूहिक शक्ति में बदल देते हैं जो 'सनातन धर्म' की वैचारिक सीमाओं की रक्षा करने में सक्षम है।[15]

प्राचीन संस्कृति को संरक्षित रखना

प्राचीन परंपराओं को संरक्षित करने में नागा साधुओं की भूमिका मौलिक रूप से 'सनातन धर्म के जीवंत अभिलेखागार' के रूप में उनकी पहचान पर टिकी हुई है। जबकि आधुनिक इतिहास अक्सर ग्रंथों में दर्ज किया जाता है, कुंभ मेले की परंपराएं इन तपस्वियों की सजीव, मौखिक और क्रियात्मक वंशावली के माध्यम से

सुरक्षित रखी जाती हैं। गुरु-शिष्य परंपरा का कड़ाई से पालन करके, नागा साधु यह सुनिश्चित करते हैं कि वे गूढ़ वैदिक अनुष्ठान, जो अन्यथा विस्मृति के गर्त में समा सकते थे, आज भी उसी सटीकता के साथ किए जाएं जैसे वे एक सहस्राब्दी पहले किए जाते थे। उनके संरक्षण के प्रयास निष्क्रिय नहीं हैं; वे प्राचीन आचार संहिता (धर्म) का एक सक्रिय, दैनिक निर्वहन हैं जो सांसारिक विकास के ऊपर आध्यात्मिक संप्रभुता को प्राथमिकता देते हैं।

इस संरक्षण की एक प्राथमिक विधि 'धूनी' (पवित्र शाश्वत अग्नि) का रखरखाव है। यह अग्नि केवल गर्मी के लिए एक भौतिक साधन नहीं है, बल्कि ऋग्वेद में वर्णित आदिम ऊर्जा (अग्नि) का एक प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व है। पीढ़ियों तक इन अग्नियों को निरंतर प्रज्वलित रखकर, नागा साधु वैदिक युग के साथ एक सीधा अनुष्ठानिक संपर्क बनाए रखते हैं। इसके अलावा, 'शाही स्नान' के दौरान उनकी भूमिका हिंदू धर्म की सामूहिक चेतना के लिए एक मौसमी "पुनरुद्धार" के रूप में कार्य करती है। स्नान का विशिष्ट क्रम, ले जाए जाने वाले शस्त्र और जुलूस के दौरान उपयोग किए जाने वाले संस्कृत मंत्र मध्यकालीन सुरक्षा प्रोटोकॉल की सटीक प्रतिकृतियां हैं। यह औपचारिक प्रदर्शन आम भक्तों को धर्म की शक्ति और लचीलेपन की याद दिलाता है, जो वैश्वीकरण के दौर में एक सांस्कृतिक ढाल के रूप में कार्य करता है।[16]

समसामयिक प्रासंगिकता

कुंभ मेले में नागा साधुओं की समकालीन प्रासंगिकता प्राचीन तपस्या और 21वीं सदी की तीव्र शक्तियों के संगम पर स्थित है। हालाँकि उनके मूल अनुष्ठान प्राचीन काल की तरह ही बने हुए हैं, लेकिन जिस संदर्भ में वे कार्य करते हैं, वह वैश्वीकरण, डिजिटल मीडिया और राज्य-आधारित प्रबंधन द्वारा नाटकीय रूप से बदल गया है।

मीडिया प्रतिनिधित्व और तमाशा

आधुनिक युग में, वैश्विक मीडिया में नागा साधु कुंभ मेले की प्राथमिक दृश्य पहचान बन गए हैं। हालाँकि, यह प्रतिनिधित्व अक्सर "विदेशी आकर्षण" और सनसनीखेज खबरों के बीच झूलता रहता है। अंतर्राष्ट्रीय वृत्तचित्र और डिजिटल फोटोग्राफी अक्सर उनके नग्न रहने और भस्म लगाने के "चौंकने वाले प्रभाव" पर ध्यान केंद्रित करते हैं, जिससे कभी-कभी अखाड़ों का गहरा धार्मिक प्रशिक्षण और संस्थागत अनुशासन ओझल हो जाता है। इस मीडिया दृष्टि ने नागा साधु को "रहस्यमय भारत" के एक वैश्विक प्रतीक में बदल दिया है, जो मेले की दृश्यता को तो बनाए रखता है, लेकिन जटिल आध्यात्मिक प्रथाओं को सोशल मीडिया के उपभोग के लिए मात्र एक दृश्य तमाशे के रूप में सीमित करने का जोखिम भी पैदा करता है।[17]

पर्यटन और वैश्वीकरण

अंतर्राष्ट्रीय पर्यटकों और "आध्यात्मिक साधकों" के आगमन ने अखाड़ों में एक नया गतिविधी तंत्र पेश किया है। वैश्वीकरण ने कुंभ को विश्व पर्यटन मानचित्र पर एक उच्च-प्राथमिकता वाला गंतव्य बना दिया है, जिससे "पवित्रता का व्यावसायीकरण" हुआ है। जहाँ इससे तीर्थस्थलों को महत्वपूर्ण राजस्व और बुनियादी ढांचा मिलता है, वहीं यह नागा साधुओं के संन्यास के संकल्प और विलासितापूर्ण टेंट, फूड कोर्ट तथा व्यावसायिक ब्रांडिंग के बीच एक तनाव पैदा करता है। कुछ अखाड़ों ने अपनी शिक्षाओं को प्रसारित करने के लिए सोशल मीडिया का उपयोग करना शुरू कर दिया है, जो वैश्विक धार्मिक बाजार में अपने प्रभाव को बनाए रखने के लिए तकनीक को अपनाने के उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण को दर्शाता है।[18]

सरकारी प्रबंधन और संस्थागतकरण

आधुनिक कुंभ मेला बड़े पैमाने पर राज्य-आधारित प्रबंधन का एक अभ्यास बन गया है। सरकार अब अखाड़ों के लिए व्यवस्थित 'सेक्टर', विशिष्ट पुलिस बल और डिजिटल भीड़-नियंत्रण तंत्र प्रदान करती है। जहाँ यह सुरक्षा और स्वच्छता सुनिश्चित करता है, वहीं यह उन समूहों पर नौकरशाही नियमन भी लागू करता है जो

ऐतिहासिक रूप से पूर्ण स्वायत्तता के साथ कार्य करते थे।[19] मेले के "आधिकारीककरण" का अर्थ है कि नागा साधुओं के पवित्र स्थान अब राज्य द्वारा मैप किए गए हैं, गिने गए हैं और निगरानी में हैं, जिससे शक्ति का संतुलन केवल धार्मिक अधिकार से हटकर अखाड़ों और सरकार के बीच एक साझेदारी में बदल गया है।

प्रामाणिकता बनाए रखने की चुनौतियां

आज नागा परंपरा के सामने सबसे बड़ी चुनौती प्रामाणिकता बनाए रखने का संघर्ष है। जैसे-जैसे मेला बढ़ रहा है, अखाड़ों को "नकली साधुओं" की घुसपैठ का सामना करना पड़ रहा है, जो पर्यटकों से धन प्राप्त करने के लिए नागाओं का भेष धारण करते हैं। करोड़ों की भीड़ के बीच गुरु-शिष्य दीक्षा की कठोरता को बनाए रखना कठिन होता जा रहा है। इसके अलावा, जैसे-जैसे औद्योगिकीकरण के कारण पवित्र नदियाँ पर्यावरणीय गिरावट का सामना कर रही हैं, नागा साधुओं ने तेजी से पर्यावरण कार्यकर्ताओं की भूमिका अपना ली है। उनका तर्क है कि उनकी परंपरा की शुद्धता गंगा और यमुना के पारिस्थितिक स्वास्थ्य के साथ अटूट रूप से जुड़ी हुई है।

निष्कर्ष

नागा साधु कुंभ मेले के केवल एक आकर्षक दृश्य तत्व से कहीं अधिक हैं; वे एक प्राचीन आध्यात्मिक ढांचे के मौलिक संरक्षक हैं। प्राचीन परंपराओं को अक्षुण्ण बनाए रखने में उनकी भूमिका अपूरणीय है, क्योंकि वे अमूर्त वैदिक दर्शन और मूर्त, जीवंत अनुभव के बीच एक सेतु का कार्य करते हैं। अखाड़ा प्रणाली के कठोर रखरखाव, गुरु-शिष्य परंपरा के संरक्षण और शाही स्नान जैसे अनुष्ठानों के प्रति अटूट निष्ठा के माध्यम से, वे यह सुनिश्चित करते हैं कि सदियों की राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल के बावजूद भारत का आध्यात्मिक डीएनए बरकरार रहे। वे उस विरासत के मानवीय अभिलेखागार हैं जो बाहरी विजय के बजाय आंतरिक संप्रभुता को महत्व देती है।

कुंभ मेले का सांस्कृतिक महत्व एक धार्मिक उत्सव के रूप में इसकी पहचान से कहीं ऊपर है; यह भारतीय सभ्यता का एक भव्य रंगमंच है। यह एक ऐसे लोकतांत्रिक स्थान के रूप में कार्य करता है जहाँ उपनिषदों का उच्च दर्शन आम तीर्थयात्री की जमीनी श्रद्धा से मिलता है। नागा साधुओं की उपस्थिति इस समागम को अपना आध्यात्मिक केंद्र बिंदु प्रदान करती है। उनका अस्तित्व हिंदू धर्म की 'त्याग' की अवधारणा को सर्वोच्च आदर्श के रूप में पुष्ट करता है, जो आधुनिक होते भारत को याद दिलाता है कि उसकी जड़ें क्षणभंगुर के बजाय शाश्वत (अमृत) की खोज में टिकी हैं। नागाओं के माध्यम से मेला एक ऐसी सामूहिक पहचान को मजबूत करता है जो लचीली और अनुकूलनीय दोनों है, यह साबित करती है कि परंपरा अतीत का कोई अवशेष नहीं बल्कि एक निरंतर प्रवाह है।

संदर्भ :

1. कुमार, निर्मलेन्दु , प्रयागराज अर्धकुंभ, कुम्भ, महाकुंभ लोकभारती प्रकाशन प्रयागराज (2025) पृ. 173
2. वही पृ. 182
3. सिन्हा, के., वारियार असेटिक्स ऑफ इंडिया : द नागा (2021) रौटलेज इंडिया , पृ. 324
4. त्रिपाठी , ए. , सेक्रेड वारियार : द नागा साधु ऑफ इंडिया (2018),ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस , पृ. 245
5. कुमार , अमिताभ , कुम्भ : डायरी एक शोध ग्रंथ (2024) , दिव्यांश पब्लिकेशन लखनऊ , पृ. 128
6. कुमार, निर्मलेन्दु , प्रयागराज अर्धकुंभ, कुम्भ, महाकुंभ लोकभारती प्रकाशन प्रयागराज (2025) पृ. 163-165
7. रामानन्द , कुम्भ सर्वजन -सहभागिता का विशालतम अमृत पर्व,पिलग्रिम पब्लिकेशन,वाराणसी पृ.26-27
8. सिन्हा, के., वारियार असेटिक्स ऑफ इंडिया : द नागा (2021) रौटलेज इंडिया , पृ. 67
9. कुमार, निर्मलेन्दु , प्रयागराज अर्धकुंभ, कुम्भ, महाकुंभ लोकभारती प्रकाशन प्रयागराज (2025) पृ.181-183
10. सिन्हा, के., वारियार असेटिक्स ऑफ इंडिया : द नागा (2021) रौटलेज इंडिया , पृ. 67

11. वही,पृ. 67
12. त्रिपाठी , ए. , सेक्रेड वारियार : द नागा साधु ऑफ इंडिया (2018),ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस , पृ.112
13. कामा , मैकलेयन, सीइंग,बीइंग सीन एण्ड नॉट बीइंग सीन, पिलग्रेमिज, टुरिज़म एण्ड लेयर्स ऑफ लूकिंग एट द कुम्भ मेला,विले, क्रॉस करंट सितंबर 2009,वाल्युम 59, नं. 3 पृ. 323-324
14. कुमार , अमिताभ , कुम्भ : डायरी एक शोध ग्रंथ (2024) , दिव्यांश पब्लिकेशन लखनऊ , पृ.106-107
15. वही , पृ. 113-118
16. वही , पृ. 113-118
17. कामा , मैकलेयन, सीइंग,बीइंग सीन एण्ड नॉट बीइंग सीन, पिलग्रेमिज, टुरिज़म एण्ड लेयर्स ऑफ लूकिंग एट द कुम्भ मेला,विले, क्रॉस करंट सितंबर 2009,वाल्युम 59, नं. 3, पृ. 328-329
18. वही , पृ. 332
19. कुमार , अमिताभ , कुम्भ : डायरी एक शोध ग्रंथ (2024) , दिव्यांश पब्लिकेशन लखनऊ , पृ.279-280

पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन में आदिवासी समुदायों के संस्कृतियों की भूमिका : एक अध्ययन

संदीप कुमार*
डॉ. अमृत कुमार**

सारांश

जल, जंगल, जमीन, मानव जीवन का अहम हिस्सा रहा है परन्तु मानव यह जानते हुए भी इसे नष्ट करने पर तुले हुए है। शहरों में निवास करने वाले मनुष्य अपने भौतिकवादी सुख सुविधाओं के पूर्ति के लिए प्राकृतिक महत्व एवं भविष्य के प्रवाह किए बिना पर्यावरण के साथ खिलवाड़ कर रहे है साथ ही जंगल को अंधाधून काटा भी जा रहा है। जो वातावरण से हानिकारक पदार्थ अर्थात कार्बन डाई आक्साइड को ग्रहण कर,ऑक्सिजन जैसे अमृत प्रदान करता है। इस प्राकृतिक संसाधन का अंधाधून दोहन किया जा रहा है विकास की दुहाई लगाकर, इससे मानव जीवन संकट में है।आदिकाल से ही देखा गया है कि आदिवासी समाज का जीवन जन्म से लेकर मरण तक की सम्पूर्ण सांस्कृतिक एवं परम्पराएँ जंगल के अभिन्न अंगो से जुड़ी हुई है। आदिवासी जनों की जीवन शैली को योगवादी एवं विलासवादी वर्गो द्वारा तहस नहस करने का प्रयास किया जा रहा है। आदिवासी समुदाय वास्तव में प्रकृति के प्रहरी है आदिवासी जन जंगल को अपने लिए नही बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व के लिए संरक्षण एवं प्रबंधन करते रहे है उनके सामाजिक जीवन में प्रकृतिक के संरक्षण एवं प्रबंधन की पधति बड़े पैमाने पर निहित है।

शब्द कुंजी :– नैसर्गिक, खुंटकट्टी, अन्योन्याश्रय, संरक्षक, प्रहरी, भोगवादी प्रबंधन, अमृत, आत्मीय, परंपरा, सांस्कृतिक

भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा संरक्षणवादी एवं प्रबंधनकारी है भोगवादी नहीं, संरक्षण एवं प्रबंधनकारी परम्परा सदैव प्रकृति के प्रति नम्र नजरिया रहा है। किन्तु यहाँ पर प्रकृकि संतलन के लिए शांति पाठ एवं यज्ञ का भी विधान रहा है।यहाँ तक की भारत को माता एवं धरती को जननी की संज्ञा दी गई है। आदिकाल से मानव एवं प्रकृति के बीच आत्मीय रिश्ता रहा है स्वच्छ स्थान पर स्वच्छ वातावरण पाया जाता है उसी प्रकार स्वच्छ प्रकृति में उन्नत जीवन शैली का विकास होता है। लेकिन बदलते समय में मानव की जीवन पधति भोगवादी होती जा रही है लेकिन इक्कीसवी शदी में प्रकृति का अंधाधुन दोहन किया जा रहा है। किन्तु प्रकृतिक असंतुलन के कारण सम्पूर्ण विश्व किसी न किसी आपदा से परेशान है जैसे पृथ्वी का गर्म

होना, वायु प्रदूषण,बाढ़,सुखाड़ आदि वर्तमान लोगो के भोगवादी नियती का परिमाण है।[1] भारतीय परंम्परा में प्रकृति के वास्तविक रक्षक हमारा आदिवासी समाज है। जो प्रकृतिक के गोद में अपना जीवन आरंम्भ करता है। उसी में अंत भी होता है। आदिवासी एवं प्रकृति का अटट संबंधन एवं अतुलनीय रिश्ता रहा है। आदिवासी जन प्रकृति के स्वरुप को सहजता से भाप लेते थे क्योकि इनका संबंध आत्मीय रहा है। कारण प्रकृति केइ भयानक परिस्थितियों का सहज अनू भूतियाँ प्राप्त कर उन खतरों से अपने आप को बचाने हेतु निवास स्थान में परिवर्तन कर लेते है।

भारत सदियों से सास्कृतिक परम्पराओं का विशाल देश रहा है। जैसेः– जाति, जनजातियाँ,धर्म पंथों आदि इसी क्रम में आर्यों का भारत में आगमन हुआ तथा आर्यों एवं अनार्यो के बीच मत भेद आरंम्भ हुआ,और आदिवासी दूर्दशा की कहानी आरंम्भ हुई तब से ये जंगल में बनवसाी के भांती जंगल में जीवन जीने लगे,जल,जंगल एवं जमीन के लिए संघर्ष करते रहे।हजारों साल बीतने के बाद भी अनार्य अर्थात आदिवासी जन जंगलो एवं वनो मे रहकर तमाम समस्याओं एवं कठिनाइयों के बावजूद अपना जीवन यापन करते दिखाई देते है। हालांकि वैदिक धर्मग्रंथ के अतिरिक्त रामायण एवं महाभारत में इन्हे दैत्य,राक्षस,असुर जैसे उपासपूर्ण शब्दों से संबोधित किया गया है। इन तमाम बातों से इनके जीवन पर वर्तमान समय की देखने की नजरिया

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा
** सहायक प्रध्यापक, इतिहास विभाग, जगदम कॉलेज, छपरा, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

कैसी होगी ? यहाँ तक की रामायण एवं महाभारत के रचनाकारों ने आदिवासी जनों के स्वरुप का चित्रण भयानक प्रस्तुत किया है। जिसे अधिकाधिक लोगों का उनके प्रति सहानुभूति नही रहीं। बल्कि रामायण में शबरी एवं महाभारत में एकलव्य ये स्वरुप भारतीय समाज में लोकप्रिय है लेकिन समस्त आदिवासी जनों के लिए भारतीय समाज में सहानुभूति तथा आदर की भावना नहीं थी।[2]

आदिवासी जनों के अनेक समूह है जो कई नामों से जाना जाता है जैसे जनजाति,मूलवासी,वन्यजन गिरिजन तथा अन्य नाम भी मिलते है लेकिन भारतिय संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार अनुसूचित जनजाति कहा गया है।इनके नामों से ऐसा प्रतित होता है कि ये धरती पर न जाने कब से निवास कर रहे है। अर्थात अन्य मानव के तुलना में ये बहुत पहले से धरती पर निवास कर रहे है। तो अमूमन इस धरती पर अधिकार एवं हक ज्यादा होना चाहिए।लेकिन व्यहवारिकता में ठिक विपरित है हक या अधिकार के मामले में इनका स्थान आखिरी एवं न के बराबर है।[3]

भारत वर्ष में आदिवासी समाज के निवास के विषय में अगर बात किया जाए,तो आदिवासी आर्यो के पूर्व के मानव समूह है।किन्तु वास्तव में भूमि पर इनका मूल मालिकाना अधिकार होना चाहिए था ये ऐतिहासिता के आधार पर क्षेत्रापति है।इसी कारण कुद विद्वानों ने इन्हे आबॉरिजनल के संज्ञा से संबोधित किया है।जो समाचिन भी है।ये आदिवासी जन भूमि के वास्तविक मालिक एवं पुत्र भी है।गोंड़,भील,करेली जनजातियों के आदि निवास के बारे में अर्थात आर्य के पूर्व निवास के बारे में महान संत महात्मा फुले इनके विषय में तार्किक बात कहते हैं:–

गोंड़ भिल क्षेत्री ये पूर्व स्वामी
पिछे आये वही इरानी
शुर,भिल मछुआरे मारे गये रारों से
जंगलों गिरिवनों में गये हकाले।[4]

महात्मा ज्येतिबा फुले की उपरोक्त विचारों से आदिवासी जन की प्राचीन होने का सारा उत्तर मिल जाता है। ये जंगल में पलायन कर जाते है। इनका जीवन कष्टदायक,पिड़ादायक एवं विभिन्न विपरित परिस्थितियों में भी इन्होने सांस्कृतिक क्षेत्रों को समृद्व करने का प्रयास किया है। उन्हे अपने भूख मिटाने के लिए जंगल एवं दुर्गम पहाड़ियों आदि स्थानों में मारे–मारे फिरना पड़ता है भारत में सर्वाधिक जन जातियॉ छतीशगढ़,उड़िशा एवं झारखण्ड बहुल प्रदेशो में निवास करती है। आदिवासी अपने जीवन के शुरुआति समय से ही महत्तव समझ चुके थे जल जंगल एवं जमीन के,इनका शुरुआती नारा जल,जंगल,जमीन है हमारा,जो आज के आधुनिक चिंतन से भी आगे की शोच मालुम पड़ता है। आदिम जीवन निर्वाहन के लिए आवश्यक एवं आवश्यकता को पूर्ण करने वाली कृषि (खेती बाड़ी) के महत्व पर जोड़ देने के लिए उनमें वैज्ञानिक शोच का जन्म हुआ। कृषि के विकाश के लिए जल,जंगल एवं जमीन आवश्यक है उनकी चिंतन पद्यती सामाजिक जीवन का आधार शीला रहा है। आदिवासी आराधना का आधार वैज्ञानिक सोच पर आधारित है जैसेः रुप में सरना / जाहेर उनका प्रकृति प्रेम अद्भूत रहा है। प्रकृति से मानव का स्तीत्व जूड़ा हुआ है प्रकृति के प्रति वास्तविक जिम्मेदारी का निर्वहन मूल रुप से आदिवासी समाज के लोगों ने निभाया है।आदिवासीयों ने अपने आराध्य स्थल के रुप में मंदिर एवं मस्जीद का निर्माण नहीं किया बल्कि वृक्षों को अपना संरक्षक एवं आराध्य बना लिया। जंगलों के प्रति इनका लगाव जंगल के स्तीत्व के लिए सराहनीय रहा। और पर्यावरण के रक्षा का यही सबसे प्रमुख कारण रहा है। उनका नजरिया आधुनिक बोध एवं चिंतन ही मूल्यों एवं विचारों का वाहक रहा है। वृक्षों प्रति उनका प्रेम क्या आधुनिक बोध का परिचायक नहीं है।[5] जल,जंगल के अतिरिक्त जमीन संरक्षण एवं प्रबंधन में आदिवासी जनों का सोच आधुनिक सोच से कहीं अधिक उपयोगी एवं प्रासंगिक प्रतित होता है।जैसे भूमि का एक प्रकार जिसमें भूमिका मालिक व्यक्ति या पुरा परिवार होता था लेकिन दूसरे प्रकार में आदिवासी भूमि पर सामूहिक मालिकाना हक रहा है।जिसका मालिकाना हक यथा पहनई,महतोई,मुण्डई, डाली–कटाली,भूतखेत पुरे समाज को है ये समाज अपने गॉव के विकाश हेतु भूमियों पर मदइद प्रथा के द्वारा सामूहिक उत्पादन करते।तथा उसका उपयोग गॉव समाज के उन्नती के लिए करते है जो इनके आधूनिक वैज्ञानिक चिंतन का स्वरुप है। जमीन पर जो वृक्ष है उनपर इनका अधिकार है। जिस प्रकार फ्रांस की क्रांति के बाद आधुनिक शब्द की उत्पति हुई,आज का जो आधुनिक विश्व जिस प्रकार प्रजातंत्र,समाजवाद एवं समानता आदि अन्य बातों को कहता है। झारखंड के खूँटकट्टी क्या आधुनिक चिंतन को नहीं समझते है ? कहा जाता की आधुनिकता की जरुरत वैज्ञानिक सोच के लिए है एवं सोच में खूंटकट्टी, भूई, मण्डा–मानकी प्रथा, मांझी परगनैत प्रथा आदि आधुनिक बोध एवं सोच को परिलक्षीत करते है।[6] आज आधुनिक समाज

प्रदूषण के कारण गम्भीर समस्याओं से जुझ रहा है। जल,जंगल,जमीन का विनाश होता जा रहा है। हम इस प्रकृति प्रदत उपहार के संरक्षण एवं प्रबंधन करने में कही न कही पिछे है।हमारे पूर्वज आदिवासीजन,जल,जंगल, जमीन से अन्योन्याश्रय संबंध रहा है खेती को उपजाउ बनाना जल के बिना सम्भव नहीं,जंगल के बिना जल की कमी, इन बातों को आज के लोग भी समझ रहे है आदिवासी जन की जीवन पद्यती आधुनिक एवं चिंतन से परिपूर्ण रहीहै। जो आधुनिक सोच को भी शिकस्त देने में सफल (सक्षम) है। जमीन संरक्षण के लिए आधुनिक चिंतन भी जंगल संरक्षण एवं प्रबंधन की बात करता है। जो आदिवासी जन आदि काल से करते आये है। हमारा आधुनिक समाज वर्तमान समस्याओं से जुझ रहा है। पर्यावरण प्रदूषण की प्रमुख समस्या है। समस्या का एक मात्र समाधान जंगल का संरक्षण एवं प्रबंधन है। आधुनिक में युग में जो इसके प्रति चिंता की जा रही है। वही जनजातियों की खूँटकपट्टी परम्परा में जंगल का विशेष महत्व है यही पूर्ण रुप से वर्तमान प्रदूषण की समस्या का निदान है।[7] जंगल के वास्तविक विनाश का समय आजादी के बाद आरम्भ हुआ है क्योंकि आजादी के बाद जनजातिय समाज को जल,जंगल एवं जमीन के परम्परागत अधिकारों से वंचित करने का प्रयास,आज झारखण्ड सहित कई अन्य जन–जाति समुदायीक इलाकों से जंगल को काटा जा रहा है। जंगल के अंधाधुन काटाई से पर्यावरण असंतुलित हो रहा है। जल का भी संकट बढ़ता जा रहा है जमीन की उर्वता नष्ट होती जा रही है। आज के कोई भी आधुनिक तरकीब एवं चिंतन इन पर्यावरणीय समस्याओं का उस हद तक निदान नही कर सकता है जैसे वृक्षारोपण,जंगल की रक्षा सामुहिक वन प्रबंधन आदि अभियान देश और विश्व दोनों स्तरों पर चलाए जा रहे है। प्रास्ताविक समाजिक,वानिकी परियोजना आदि भी उस पुरानी खूँटकट्टी परम्परा के ही आधुनिक रुप कहे जा सकते है।[8] आदिवासी जनों में पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन के साथ साथ सामाजिक जनतांत्रिक रुप भी इनमें था।खास कर झारखण्ड में खूँटकट्टी परम्परा का विशेष महत्व है इस में जल संरक्षण एवं प्रबंधन के समुच्चित तरिको को सुझाए गये है। आज समाज के कुछ बड़े वर्ग के सामाजिक,सांस्कृति तथा आर्थिक कब्र के उपर अपनी विलासिता की सपने देखते है आदिवासी खूँटकट्टी परम्परा में संसाधनों का संरक्षण एवं प्रबंधन के साथ उनका संवर्धन भी देखा जा सकता है। वर्तमान समय में सरकार द्वारा नीति निर्वारण तथा आधुनिक बोध से उनका चिंतन वैज्ञानिक एवं भविष्यों अनोखी है ये अपने सामाजिक संगठनों को लोकतांत्रिक पद्यतियो के अनुसार प्रत्येक तीन वषों पर प्रमुख का चुनाव करते थे लेकिन कुछ आधुनिक युग एवं सामंती समाज से प्रभावित होकर प्रमुख का पद वंशानुगत हो गया। लेकिन आज भी पाहन का चुनाव प्रत्येक तीन वर्षों पर किया जाता है ये सभी बाते जन जातियों के देशाज जनतंत्र का प्रकृति के साथ उद्भूत तारतम्य एवं सामाजिक जनतंत्र के उदाहरण है।[9] आदिवासी जनों का रितीरिज एवं संस्कृति अद्भूत रहा है इनके अलग देवता है अपने पूजा अर्चना एवं पर्व त्योहार के आलावा अन्य सामाजिक संस्कारो को विभिन्न अवसरों में करते है इसके धार्मिक सामाजिक एवं संस्कृतिक को अन्य धार्मिक समूहों ने जैसे हिन्दू और ईसा धर्म वालो ने प्रभावित किया , तथा इनका धर्मोन्तर हिन्दूकरण एवं ईसाई करण में हुआ। इस परिस्थिती में भी अपने मूल धर्मिक तथा सांस्कृतिक स्वरुप का परित्याग नहीं किए है।[10]

आज का आधुनिक समाज अपने अंधाधुन विकास के लहर में अपने धार्मिक ,सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन शैली को विस्मृत करता जा रहा है वही प्राचीन भारतीय परम्परा में भी पेड़ो के संरक्षण एवं प्रबंधन पर भी जोड़ दिया गया है ऋषिजनों ने शिल्प एवं विश्वकर्मा प्रकाश में पेड़ पौधे के प्रभाव का वर्णन किया है। ये हमारे स्वास्थ्य,मानसिक परिस्थिती,विवाह,प्रेम,प्रसन्नता जीवन शैली को नया आयाम देती है। प्रदषिजनों ने प्रत्येक पेड़–पौधों की विशेषताए बताए है जैसे संतान सुख,धन प्राप्ति आदि की कामना पेड़ पौधे से की गई है।ऋषि जनों ने पेड़ों के महत्व बताया कौन सा पेड़ लगाना कल्याणकारी होगा? ऋषी जनों ने अपने अर्थक प्रयास के द्वारा मानव कल्याण के लिए वनस्पतियों के उपयोग पर जोड़ दिया। निःशवार्थ मानव कल्याण के लिए इन वनस्पतियों शुभांकरों का आदाप–प्रदान निशुल्क किया जाता है अब यह प्रथा केवल आदिवासी क्षेत्रों के बीच ही जीवित है।[11] आदिवासी जनों का रहवास जंगल है इनका जल,जंगल एवं जमीन से नैसर्गिक संबंध रहा है ये लोग रहवास अर्थात जंगल की रक्षा के लिए संर्घष करते रहे है। इनका जो प्रकृति के साथ संबंध रहा वह किसी अन्य समुदाय के अपेक्षा पर्यावरणीय संतुलन के दृष्टिकोण से बेहतर रहा है। कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण समाज का लगाव प्रकृति से है। मानव प्रकृति का फल है क्योंकि मानव का भौतिक शरीर का संबंध सीधे प्रकृति से है। ऋषि जनों ने जीवन की सत्यता प्रकृति से जोड़ी। प्रकृति के बिना जीवन टुट जाता है एवं प्रकृति के अलगावा से उनकी सांस्कृतिक पद्यती बिगड़ती है ऐसा समाज दशाहिन एवं कुषोषित हो गया है। प्रकृति का दोहन संकट को न्यौता देने जैसी है। देश की उन्नति के लिए

देशज जीवन शैली आवश्यक है इसके विपरित ऐतिहासिक पारस्थितकी शोषण देशज समुदायों की आस्मिता पारिस्थकीय विनाश और देश समुदायों का आत्मा निरुपण।[12]

आदिवासी समाज ने जिसे पूज्य माना वह जीवनदायी तत्व है जैसेः जल,जंगल,जमीन आदि गैर आदिवासी जनों ने अपने अपने लिए शक्ति खड़ा किया। जिनकी अनेक गथाएँ लिखी गयी है ईश्वर की कल्पना गैर आदिवासी जनों की प्रथम चतुराई जिससे जीवन सम्भव है उस पर ध्यान कम रहा। परन्तु आदिवासी जन जंगल से अध्यात्मीक तौर पर जुड़े हुए है वे पेड़ों मे अपने पूर्वजों की कल्पना करते थे।इनका सम्पूर्ण जीवन शैली इसी के इर्द–गिर्द नाचता है जैसे भोजन,धर्नाज एवं आर्थिक क्रियाओं का आधार जंगल रहा है। लेकिन आज के आधुनिक विकाशवाद की आंधी में प्राकृतिक संसाधनों का सर्वाधिक दोहन किया जा रहा है। उपरोक्त तथ्यों के अधार पर गुलाबी कोठारी का कथन सत्य प्रतित हो रहा कि नथाकथित शिक्षित लोग ही पारिस्थितिकी और पर्यावरण समरस्ता के विनाश के लिए उत्तरदायी होते है वे प्रकृति को जड़ वस्तु मानते है जो मानो मानव के उपयोग और शोषण के लिए ही बना है।[13]

निष्कर्ष

निष्कर्षतः हम की सकते है कि प्रकृति सभी जीवों का प्राण तत्व है जीव का सीधा संबंध प्राकृतिक उपहारो से है इन उपहारों का हमारे जीवन में अहम भूमिका है लेकिन आज के वर्तमान विकासवादी विचारधारा एवं आधुनिकीकरण ने जल जंगल एवं जमीन का दोहन करता जा रहा है। जिससे देश सहित सम्पूर्ण विश्व विभिन्न प्राकृतिक संकटों से जूझ रहा है। संकट का आधार दिनों दिन विस्तृत होता जा रहा है। इन संकटों से बचने के लिए हमें ठोस विधि व्यस्था की आवश्यकता है पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन का एक मात्र रास्ता अधिक से अधिक मात्रा में वृक्षारोपण करना एवं जंगल,पेड़ो को बचाना। पर्यावरण संबंधित सरकार की नीति एवं कानून का कड़ाई के साथ अनुपालन करने की आवश्यकता है लोगों में पर्यावरण जागरुकता बढ़ाना एवं पर्यावरण का प्रत्येक व्यक्ति अपना नैतिक जिम्मेवारी . समझकर संरक्षण करे। आदिवासी प्रकृति के सचे प्रहरी के भूमिका में सदियों से रहे है ये जल,जंगल एवं जमीन के संरक्षण के लिए संघर्ष एवं लड़ाईयाँ लड़े, तथा इनके आंतरिक जीवन में हस्तक्षेप न किया जाए।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. सुधांशु शेखर एवं दीपक कुमार दिवाकर (सं0) पर्यावरण और मानवा अधिकार,जागृति पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, 2013 पटना में प्रकाशित नेहा कुमारी का शोध आलेख गाँधी दर्शन में पर्यावरण पृ0 47
2. उमा शंकर चौधरी (सं0)हाशिये की वैचारिकी, आनामिका पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लि0, प्रथम संस्करण 2012 नई दिल्ली में प्रकाशित,विनायक तुकाराम का शोध आलेख आदिवासी कौन? पृ0 249
3. डॉ0 बी.एम.मुखर्जी एवं डॉ0 फरहद मलिक मध्य भारत में आदिवासी समस्याएँ एवं संम्भावनाएँ, के0 के0 पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण 2014,नई दिल्ली में प्रकाशित, जितेन्द्र कमार प्रेमी का शोध आलेख आदिवासी अस्तित्व,विकास एवं नकसलवाद समस्या एवं समाधान पृ0 120
4. धनंजय कीर (सं0)–महात्मा फुले वाङमय, स0 म0 पालारो दि0 आ0 प्रथम संस्करण 1980, मुम्बई पृ0 418
5. हरिवंश फैसल अनुराग (सं0)–झारखण्ड अस्मिता के आयाम, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण 2009, नई दिल्ली में प्रकाशित,रश्मि कात्यायन एवं यूएस मनोज का शोध आलेख घूंटकट्टी परम्पराका आधुनिक बोध से रिस्ता पृ0 113
6. उपर्युक्त, पृ0–114
7. उपर्युक्त, पृ0–वही
8. उपर्युक्त, पृ0–115
9. उपर्युक्त, पृ0–115–116
10. डॉ0 बी.एम. मुखर्जी एवं डाॅ0 फरहद मलिक– मध्य भारत में आदिवासी समस्याएँ एवं संभावनाएँ, के0 के0 पब्लिकेशन्स, प्रथम संस्करण 2014, नई दिल्ली में प्रकाशित,डॉ0 करमा उराँव का शोध आलेख पार्श्व प्रदेश झारखण्ड उड़िसा एवं छतीशगढ़ के जनजातियों का सामाजिक–संस्कृतिक संरूपण पृ0 13
11. किशोरीलाल व्यास – भारतीय संस्कृति और संरक्षण,क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, प्रथम संस्करण 2007,नई दिल्ली पृ0 59
12. डॉ0 बी.एम. मुखर्जी एवं डॉ0 फरहद मलिक – मध्य भारत आदिवसी समस्याएँ एवं संभावनाएँ, के0 के0 पब्लिकेशन,प्रथम संस्करण 2012,नई दिल्ली में प्रकाशित जयनारायण सिंह एवं डॉ0 फरहद मलिक का शोध आलेख पारिस्तिकी विकास और आदिवासी स्वशासन एक सैध्दांतिक दृष्टि पृ0–191
13. उपर्युक्त, पृ0 194

ग्रामीण समाज में महिलाओं की स्थिति : एक अध्ययन

डॉ. संगीता कुमारी*

शोध सार -

प्रस्तुत अध्ययन "ग्रामीण समाज में महिलाओं की स्थिति : एक अध्ययन" है ग्रामीण समाज में महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की धुरी हैं। वे कृषि कार्यों, पशुपालन, घरेलू जिम्मेदारियों और पारिवारिक देखभाल में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। इसके बावजूद, उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और राजनीतिक निर्णय-निर्माण में समान अवसर नहीं मिलते। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो प्राचीन भारत में महिलाएँ सम्मानित स्थान रखती थीं, परंतु मध्यकालीन पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने उनकी स्वतंत्रता को सीमित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम में ग्रामीण महिलाओं ने सक्रिय भागीदारी की, किंतु स्वतंत्रता के बाद भी व्यवहारिक स्तर पर असमानता बनी रही। शिक्षा के क्षेत्र में ग्रामीण महिलाओं की स्थिति शहरी महिलाओं की तुलना में कमजोर है। बाल विवाह, घरेलू जिम्मेदारियाँ और संसाधनों की कमी शिक्षा में बाधा डालती हैं। स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच सीमित है, विशेषकर मातृ स्वास्थ्य और पोषण के मामले में। सामाजिक मान्यताओं और लैंगिक असमानता के कारण महिलाएँ निर्णय-निर्माण से दूर रहती हैं। सरकारी योजनाएँ जैसे बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ, महिला स्वयं सहायता समूह, जननी सुरक्षा योजना और पंचायती राज में आरक्षण ने महिलाओं की स्थिति सुधारने का प्रयास किया है। इन योजनाओं से शिक्षा, स्वास्थ्य और राजनीतिक भागीदारी में सुधार हुआ है, लेकिन चुनौतियाँ अभी भी बनी हुई हैं।

विशिष्ठ शब्द - ग्रामीण महिलाए, मध्यकालीन, जिम्मेदारियाँ, पितृसतात्मक, स्वास्थ्य आदि ।

उद्देश्य - प्रस्तुत शोध पत्र में ग्रामीण महिलओं की वास्तविक परिस्थिति को ज्ञात करना है ।

उपकल्पना - ग्रामीण महिलओं की स्थिति में सुधार हो रहा है ।

शोध सारांश - ग्रामीण समाज में महिलाओं की स्थिति एक जटिल और महत्वपूर्ण विषय है। भारतीय ग्रामीण जीवन में महिलाएँ परिवार और समाज की रीढ़ होती हैं, लेकिन उनकी भूमिका अक्सर पारंपरिक सीमाओं में बंधी रहती है। वे खेतों में काम करती हैं, पशुपालन करती हैं, घर संभालती हैं और बच्चों की देखभाल करती हैं, फिर भी उनके योगदान को अक्सर औपचारिक रूप से मान्यता नहीं मिलती। आये दिन इसी बात को लेकर अक्सर उनमे असंतोष की भावना का विकाश हुआ है(1)

आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की शिक्षा का स्तर अपेक्षाकृत कम होता है। शिक्षा में तकनिकी का विकास नही हो पा रहा है । कई परिवारों में लड़कियों की पढ़ाई को प्राथमिकता नहीं दी जाती, जिससे वे उच्च शिक्षा और रोजगार के अवसरों से वंचित रह जाती हैं। शिक्षा की कमी के कारण वे अपने अधिकारों और सरकारी योजनाओं की जानकारी से भी दूर रहती हैं। आर्थिक दृष्टि से महिलाएँ कृषि और घरेलू उद्योगों में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। वे खेतों में पुरुषों के साथ काम करती हैं, बीज बोने से लेकर फसल काटने तक हर चरण में भाग लेती हैं। इसके बावजूद भूमि का स्वामित्व प्रायः पुरुषों के नाम पर होता है और महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिलती।(2)

सामाजिक दृष्टि से महिलाओं की स्थिति परंपरागत मान्यताओं और पितृसत्तात्मक सोच से प्रभावित होती है। विवाह, परिवार और समाज में निर्णय लेने की शक्ति प्रायः पुरुषों के हाथों में होती है। बाल विवाह, दहेज प्रथा और घरेलू हिंसा जैसी समस्याएँ ग्रामीण महिलाओं के जीवन को और कठिन बना देती हैं। स्वास्थ्य

* सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, माँ वागेश्वरी महाविद्यालय, गया जी

के क्षेत्र में भी ग्रामीण महिलाएँ चुनौतियों का सामना करती हैं। स्वास्थ्य सेवाओं की कमी, पोषण की कमी और प्रसव संबंधी जटिलताओं के कारण उनकी स्थिति कमजोर रहती है। कई बार सामाजिक संकोच और अशिक्षा के कारण वे समय पर चिकित्सा सहायता नहीं ले पातीं।[3]

पिछले कुछ दशकों में स्थिति में बदलाव भी देखने को मिला है। सरकारी योजनाएँ जैसे स्वयं सहायता समूह (SHGs), महिला सशक्तिकरण कार्यक्रम, बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ अभियान और ग्रामीण रोजगार योजनाएँ महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में काम कर रही हैं। अब कई महिलाएँ छोटे व्यवसाय शुरू कर रही हैं, पंचायतों में नेतृत्व कर रही हैं और शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं।

ग्रामीण समाज में महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएँ, आर्थिक अवसर और सामाजिक जागरूकता अत्यंत आवश्यक हैं। जब महिलाएँ शिक्षित और आत्मनिर्भर होंगी, तभी वे अपने अधिकारों के लिए आवाज उठा पाएँगी और समाज में बराबरी का स्थान प्राप्त कर पाएँगी।

इस प्रकार, ग्रामीण महिलाओं की स्थिति चुनौतियों से भरी हुई है, लेकिन धीरे-धीरे परिवर्तन की लहर भी दिखाई दे रही है। यदि समाज और सरकार मिलकर उनके विकास के लिए ठोस कदम उठाएँ, तो आने वाले समय में ग्रामीण महिलाएँ न केवल परिवार की धुरी होंगी बल्कि समाज और राष्ट्र की प्रगति में भी अग्रणी भूमिका निभाएँगी।[5]

1. ग्रामीण समाज में महिलाओं की भूमिका

ग्रामीण महिलाएँ कृषि कार्यों में पुरुषों के बराबर श्रम करती हैं। वे खेतों में बुआई, कटाई, पशुपालन और घरेलू कार्यों में संलग्न रहती हैं। इसके अलावा, वे सामाजिक परंपराओं और सांस्कृतिक गतिविधियों की संरक्षक भी होती हैं।

2. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

प्राचीन काल में महिलाएँ धार्मिक और सामाजिक जीवन में सम्मानित स्थान रखती थीं। मध्यकाल में पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने उनकी स्वतंत्रता को सीमित किया। स्वतंत्रता संग्राम में ग्रामीण महिलाओं ने खादी बुनने, आंदोलन में भाग लेने और सामाजिक जागरूकता फैलाने में योगदान दिया। स्वतंत्रता के बाद संविधान ने समान अधिकार दिए, लेकिन व्यवहारिक स्तर पर असमानता बनी रही।

3. शिक्षा और स्वास्थ्य की स्थिति

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला साक्षरता दर शहरी क्षेत्रों से कम है। बाल विवाह और घरेलू जिम्मेदारियाँ शिक्षा में बाधा डालती हैं। स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच सीमित है, विशेषकर मातृ स्वास्थ्य और पोषण के मामले में। सरकारी योजनाओं के बावजूद जागरूकता और संसाधनों की कमी से महिलाएँ पिछड़ जाती हैं।

4. सामाजिक मान्यताएँ और लैंगिक असमानता

पितृसत्तात्मक सोच महिलाओं को निर्णय-निर्माण से दूर रखती है। विवाह और परिवार में पुरुष प्रधानता अधिक है। महिलाओं के श्रम को अक्सर “सहायता” माना जाता है, न कि “काम”। सामाजिक मान्यताओं के कारण महिलाएँ शिक्षा, रोजगार और राजनीति में पीछे रह जाती हैं।

5. सरकारी योजनाएँ और नीतियाँ

- **बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ** अभियान ने शिक्षा पर जोर दिया , जिसका परिणाम है की आज विद्यालयों और महाविद्यालयों में लडको की अपेक्षा लडकियों की संख्या अधिक रहतीं। आज अभिभावक भी अपने बच्चों को शिक्षा के प्रति जागरूक करते रहते है।
- **महिला स्वयं सहायता समूह (SHGs)** ने आर्थिक सशक्तिकरण में योगदान दिया। महिला उत्थान में इसकी बहुत बडी भूमिका है अपने छोटी छोटी बचत से महिलाएं अपने और अपने बच्चों ख्याल रखती है ।

- **पंचायती राज व्यवस्था - मलिलाओ के लिए यह वरदान से कम नही रहा ,इस व्यवस्था** में महिलाओं को आरक्षण मिला, जिससे राजनीतिक भागीदारी बढ़ी साथ ही साथ वे खुलकर अपनी बात रखने के लिए स्वतंत्र रही ।
- **जननी सुरक्षा योजना** और **आयुष्मान -** भारत इन योजनाओ ने ग्रामीण भारत विशेषकर ग्रामीण महिलाओं के लिए संजीविनी का कम किया । ए योजनाएँ स्वास्थ्य सुधार के लिए बहुत ही प्रभावी सिद्ध हुई हैं।
- योजनाओं का प्रभाव तभी होता है जब स्थानीय स्तर पर सही क्रियान्वयन हो।

ग्रामीण महिलओं की चुनौतियाँ और संभावनाएँ को अलग नही किया जा सकता

- शिक्षा और स्वास्थ्य में सुधार की आवश्यकता है। अन्य देशो की अपेक्षा भारत की शिक्षा और स्वास्थ्य व्यवस्था बहुत ही पीछे है जिसके लिए अभी और कार्य करना जरूरी है
- सामाजिक मान्यताओं में बदलाव, जैसे जैसे शिक्षा का प्रसार बढ़ रहा है पुराणी मान्यताओ में बदलाव आ रहा है ।
- आर्थिक अवसरों का विस्तार , आज अनेक ऐसे कार्य हो रहे है जिससे लोगो को आर्थिक अवसर प्राप्त हो रहे है।
- राजनीतिक भागीदारी को और मजबूत करना, ग्रामीण महिलओं को भी पंचायती राज व्यवस्था में भागीदारी से वे अब सबल हो रही है।

निष्कर्ष

भारतीय ग्रामीण समाज आज भी अपनी पहचान को बनाये हुए है। ग्रामीण समाज में महिलाएँ सामाजिक और आर्थिक जीवन की धुरी हैं। वे कृषि, पशुपालन, घरेलू कार्य और सामाजिक परंपराओं में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। इसके बावजूद, उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और राजनीतिक निर्णय-निर्माण में समान अवसर नहीं मिलते। सरकारी योजनाओं और नीतियों ने महिलाओं की स्थिति सुधारने का प्रयास किया है, लेकिन चुनौतियाँ अभी भी बनी हुई हैं। यदि शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के अवसरों को समान रूप से उपलब्ध कराया जाए तो ग्रामीण महिलाएँ समाज के विकास में और अधिक प्रभावी योगदान दे सकती हैं। ग्रामीण समाज में महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के अवसरों को समान रूप से उपलब्ध कराना आवश्यक है। साथ ही, सामाजिक मान्यताओं और लैंगिक असमानता को दूर करना भी जरूरी है।

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा, के. एल. *भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र.*
2. सिंह, सुरेन्द्र. *ग्रामीण समाज और महिलाएँ.*
3. पटेल, तुलसी. *भारतीय परिवार और महिलाएँ.*
4. भारत सरकार. *महिला सशक्तिकरण नीति रिपोर्ट.*
5. census of India (जनगणना रिपोर्ट).
6. Desai, Neera. *Women in Modern India*.
6. Agarwal, Bina. *A Field of One's Own: Gender and Land Rights in South Asia*.
7. Dreze, Jean & Sen, Amartya. *India: Development and Participation*.
8. Rao, Nitya. *Gender Equality and Rural Development*.
9. World Bank. *Gender and Development in Rural Areas*.

ब्रिटिश कालीन स्त्री शिक्षा : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. रानी कुमारी*

सार :

प्रस्तुत शोध लेख ''ब्रिटिश कालिन स्त्री शिक्षा : एक ऐतिहासिक विश्लेषण'' का अध्ययन है। ब्रिटिश काल भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दौर माना जाता है, जिसमें आधुनिक शिक्षा व्यवस्था की स्थापना के साथ–साथ स्त्री शिक्षा के विकास की प्रक्रिया भी आरंभ हुई। ब्रिटिश शासन से पहले भारतीय समाज में महिलाओं की शिक्षा अत्यंत सीमित थी। इसके पीछे प्रमुख कारण सामाजिक रूढ़ियाँ, पितृसत्तात्मक सामाजिक ढाँचा, बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा जैसी कुप्रथाएँ थीं, जिनके कारण महिलाओं को शिक्षा के अवसर बहुत कम मिल पाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन के आगमन के बाद शिक्षा के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिले, जिनका प्रभाव स्त्री शिक्षा पर भी पड़ा। इस अवधि में शिक्षा के प्रसार के लिए नई नीतियाँ बनाई गईं और धीरे–धीरे महिलाओं की शिक्षा की आवश्यकता को भी स्वीकार किया जाने लगा। इस समय ईसाई मिशनरियों, भारतीय समाज सुधारकों तथा ब्रिटिश सरकार की शैक्षिक नीतियों के संयुक्त प्रयासों से स्त्री शिक्षा को बढ़ावा मिला। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ज्योतिराव फुले तथा सावित्रीबाई फुले जैसे समाज सुधारकों ने महिलाओं की शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रस्तुत शोध लेख ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा के विकास, उसकी प्रमुख विशेषताओं, सामने आई चुनौतियों तथा भारतीय समाज पर पड़े उसके प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसी काल में स्त्री शिक्षा की मजबूत आधारशिला रखी गई, जिसने आगे चलकर स्वतंत्र भारत में महिलाओं की शिक्षा के व्यापक विस्तार के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

मुख्य शब्द : ब्रिटिश काल, स्त्री शिक्षा, सामाजिक सुधार आंदोलन, मिशनरी शिक्षा, आधुनिक शिक्षा प्रणाली, महिला सशक्तिकरण, इत्यादि।

प्रस्तावना : शिक्षा किसी भी समाज के विकास और प्रगति का आधार मानी जाती है। यह न केवल व्यक्ति के बौद्धिक विकास का माध्यम है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति का भी महत्वपूर्ण साधन है। किसी भी राष्ट्र के समग्र विकास के लिए पुरुषों के साथ–साथ महिलाओं का शिक्षित होना भी अत्यंत आवश्यक है। यदि समाज की आधी आबादी शिक्षा से वंचित रहती है, तो उस समाज की प्रगति अधूरी रह जाती है। इसी संदर्भ में स्त्री शिक्षा का विशेष महत्व है।

भारतीय इतिहास में स्त्रियों की शिक्षा की स्थिति समय–समय पर बदलती रही है। प्राचीन वैदिक काल में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता था और वे धार्मिक तथा दार्शनिक चर्चाओं में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। किंतु उत्तरवैदिक तथा मध्यकालीन काल में सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के कारण स्त्रियों की शिक्षा में धीरे–धीरे गिरावट आई। पर्दा प्रथा, बाल विवाह, स्त्रियों की सामाजिक निर्भरता तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण अधिकांश महिलाओं को शिक्षा से वंचित रहना पड़ा। परिणामस्वरूप भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा का स्तर अत्यंत निम्न हो गया।[1]

19वीं शताब्दी में भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रारंभ हुए। ब्रिटिश सरकार ने भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की शुरुआत की, जिसके अंतर्गत विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। इस नई शिक्षा प्रणाली ने भारतीय समाज में बौद्धिक जागरण की प्रक्रिया को गति दी। यद्यपि प्रारंभिक दौर में ब्रिटिश शिक्षा नीति का मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक कार्यों के लिए शिक्षित वर्ग तैयार करना था, फिर भी इसके परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुए और स्त्री शिक्षा के विकास के लिए भी नए अवसर उत्पन्न हुए।

ब्रिटिश काल में ईसाई मिशनरियों ने स्त्री शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने समाज में व्याप्त रूढ़ियों को चुनौती देते हुए बालिकाओं के लिए विद्यालयों की स्थापना की तथा उन्हें

---

* पी–एच0 डी0, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob No. : 99312 66509, E-mail id : rkgaya160@gmail.com

प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज सुधारकों ने भी स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने में सक्रिय भूमिका निभाई।[2] राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार और शिक्षा के महत्व पर बल दिया। इसी प्रकार ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने बालिका शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक प्रयास किए और समाज में जागरूकता उत्पन्न की।

पश्चिमी भारत में ज्योतिराव फुले और सावित्रीबाई फुले ने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में ऐतिहासिक कार्य किया। उन्होंने बालिकाओं के लिए विद्यालय स्थापित किए और समाज की विरोधी मानसिकता के बावजूद महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। इनके प्रयासों ने भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा के महत्व को उजागर किया और धीरे–धीरे समाज में सकारात्मक परिवर्तन आने लगे।

ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीतियों ने भी स्त्री शिक्षा को अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया। विशेष रूप से वुड्स डिस्पैच 1854 को भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है, जिसमें स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। इसके अतिरिक्त हंटर आयोग 1882 ने प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के साथ–साथ स्त्री शिक्षा के विकास की आवश्यकता को भी रेखांकित किया। इन नीतियों के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रांतों में बालिका विद्यालयों की संख्या में धीरे–धीरे वृद्धि होने लगी। फिर भी यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा का विकास अनेक चुनौतियों के बीच हुआ।[3] समाज में व्याप्त रूढ़िवादी सोच, बाल विवाह, आर्थिक कठिनाइयाँ तथा महिलाओं की सामाजिक स्थिति जैसी समस्याएँ स्त्री शिक्षा के मार्ग में बाधा बनी रहीं। इसके बावजूद 19वीं और 20वीं शताब्दी में स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रारंभिक प्रयास हुए, उन्होंने भारतीय समाज में शिक्षा के प्रति नई चेतना उत्पन्न की और महिलाओं के सामाजिक सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया।

ब्रिटिश काल से पूर्व स्त्री शिक्षा की स्थिति

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय समाज में स्त्रियों की शिक्षा बहुत सीमित थी। वैदिक काल में कुछ स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता था, किंतु बाद के कालों में सामाजिक प्रतिबंधों के कारण स्त्रियों की शिक्षा में गिरावट आई। मध्यकालीन भारत में पर्दा प्रथा, बाल विवाह और सामाजिक रूढ़ियों के कारण स्त्रियों की शिक्षा लगभग उपेक्षित हो गई थी।[4] अधिकांश स्त्रियाँ घरेलू कार्यों तक ही सीमित थीं और उन्हें औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने के अवसर बहुत कम मिलते थे।

ब्रिटिश शासन और आधुनिक शिक्षा की शुरुआत

ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव रखी गई। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार, विद्यालयों और कॉलेजों की स्थापना तथा शिक्षा नीतियों के निर्माण से शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुए। यद्यपि प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार का ध्यान मुख्य रूप से पुरुष शिक्षा पर केंद्रित था, लेकिन धीरे–धीरे स्त्री शिक्षा की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया।

ब्रिटिश काल में ईसाई मिशनरियों ने स्त्री शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने बालिकाओं के लिए विद्यालय खोले तथा समाज में स्त्री शिक्षा के महत्व के प्रति जागरूकता फैलाने का कार्य किया। मिशनरी विद्यालयों के माध्यम से कई स्थानों पर बालिकाओं को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराई गई।

सामाजिक सुधार आंदोलनों की भूमिका

- ब्रिटिश काल में अनेक भारतीय समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन सुधारकों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों का विरोध किया और स्त्रियों को शिक्षा के माध्यम से सशक्त बनाने का प्रयास किया।
- राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए प्रयास किए और शिक्षा को उनके विकास का आधार माना।
- ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने बंगाल में बालिका शिक्षा को प्रोत्साहित किया तथा विधवा पुनर्विवाह आंदोलन के साथ–साथ स्त्रियों की शिक्षा के लिए विद्यालयों की स्थापना में सहयोग दिया।
- ज्योतिराव फुले और सावित्रीबाई फुले ने पुणे में भारत का पहला बालिका विद्यालय स्थापित कर स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में ऐतिहासिक योगदान दिया।

इन समाज सुधारकों के प्रयासों से समाज में धीरे–धीरे स्त्री शिक्षा के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित होने लगा।

ब्रिटिश शिक्षा नीतियाँ और स्त्री शिक्षा

- ब्रिटिश सरकार ने समय–समय पर शिक्षा संबंधी नीतियाँ लागू कीं, जिनका स्त्री शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ा।
- वुड्स डिस्पैच 1854 को भारत में आधुनिक शिक्षा का महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है। इसमें स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने की बात कही गई थी।
- हंटर आयोग 1882 ने भी प्राथमिक शिक्षा के विस्तार और स्त्री शिक्षा के विकास पर बल दिया।

इसके बाद विभिन्न प्रांतों में बालिका विद्यालयों की संख्या धीरे–धीरे बढ़ने लगी।

इन नीतियों के परिणामस्वरूप स्त्री शिक्षा के लिए सरकारी और निजी स्तर पर कई प्रयास किए गए।

स्त्री शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ

ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा के विकास की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं–

- बालिकाओं के लिए अलग विद्यालयों की स्थापना।
- मिशनरियों तथा समाज सुधारकों की सक्रिय भूमिका।
- प्रारंभिक स्तर पर शिक्षा का प्रसार अधिक होना।
- उच्च शिक्षा के क्षेत्र में धीरे–धीरे स्त्रियों की भागीदारी का बढ़ना।

हालाँकि इस काल में स्त्री शिक्षा का प्रसार सीमित था और यह मुख्यतः शहरी क्षेत्रों तक ही केंद्रित था।

स्त्री शिक्षा के विकास में चुनौतियाँ

ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा के विकास के सामने अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक बाधाएँ थीं–

- समाज में रूढ़िवादी सोच
- बाल विवाह और पर्दा प्रथा
- स्त्रियों की शिक्षा के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण
- आर्थिक समस्याएँ

इस प्रकार ब्रिटिश काल भारतीय स्त्री शिक्षा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ। इसी काल में स्त्री शिक्षा के विकास की नींव पड़ी, जिसने आगे चलकर आधुनिक भारत में महिला शिक्षा के व्यापक प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया। प्रस्तुत शोध लेख का उद्देश्य ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा के विकास, उसके प्रमुख आयामों तथा भारतीय समाज पर उसके प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण करना है।

सहित्य समीक्षा

शर्मा, राम शरण (2019) प्राचीन भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन। राम शरण शर्मा ने भारतीय समाज की सामाजिक संरचना तथा उसके ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार भारतीय समाज में शिक्षा व्यवस्था सामाजिक वर्गों और लैंगिक भेद से प्रभावित रही। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि औपनिवेशिक काल में आधुनिक शिक्षा प्रणाली के आगमन से महिलाओं के लिए शिक्षा के नए अवसर उत्पन्न हुए, जिससे स्त्री शिक्षा के विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हुई।[5]

चन्द्र, बिपिन (2018) आधुनिक भारत का इतिहास. नई दिल्ली, ओरिएंट ब्लैकस्वान। बिपिन चन्द्र ने आधुनिक भारत में सामाजिक और शैक्षिक परिवर्तनों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन के दौरान लागू की गई शिक्षा नीतियों और सामाजिक सुधार आंदोलनों के प्रभाव से स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। उन्होंने यह भी बताया कि इस काल में बालिका विद्यालयों की स्थापना और महिला शिक्षा के प्रति जागरूकता बढ़ने लगी।[6]

सरकार, सुमित (2017) आधुनिक भारत नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन। सुमित सरकार ने औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुधार आंदोलनों और शिक्षा के विकास का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज सुधारकों के प्रयासों से स्त्री शिक्षा को बढ़ावा मिला। उन्होंने विशेष रूप से ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा ज्योतिराव फुले के योगदान को महत्वपूर्ण बताया है, जिन्होंने बालिका शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[7]

के. के. दत्ता (2016) बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, पटना, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी। के. के. दत्ता ने बिहार के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते हुए शिक्षा के विकास पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार ब्रिटिश काल में शिक्षा के प्रसार के साथ–साथ स्त्री शिक्षा की दिशा में भी प्रयास किए गए, जिनसे समाज में महिलाओं की स्थिति में धीरे–धीरे सुधार होने लगा।[8]

सिंह, के. एन. (2015) भारतीय समाज और शिक्षा का इतिहास, नई दिल्ली, अनमोल प्रकाशन। के. एन. सिंह ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण करते हुए बताया है कि ब्रिटिश काल में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की स्थापना ने स्त्री शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके अनुसार इस काल में मिशनरियों तथा समाज सुधारकों के प्रयासों से बालिकाओं के लिए विद्यालयों की स्थापना हुई और महिला शिक्षा के प्रति समाज में जागरूकता बढ़ी।[9]

उद्देश्य

1. ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।
2. ब्रिटिश शासन के दौरान स्त्री शिक्षा के विकास में सामाजिक सुधारकों और मिशनरियों की भूमिका का विश्लेषण करना।
3. ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीतियों का स्त्री शिक्षा पर पड़े प्रभाव का अध्ययन करना।
4. स्त्री शिक्षा के विकास में उपस्थित सामाजिक एवं सांस्कृतिक बाधाओं का विश्लेषण करना।
5. ब्रिटिश कालीन स्त्री शिक्षा के भारतीय समाज पर पड़े दीर्घकालीन प्रभावों का मूल्यांकन करना।

परिकल्पना

1. ब्रिटिश काल में लागू की गई शिक्षा नीतियों ने स्त्री शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
2. सामाजिक सुधार आंदोलनों ने स्त्रियों की शिक्षा के प्रति समाज में सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित किया।
3. मिशनरियों के प्रयासों ने बालिका शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।
4. सामाजिक कुरीतियाँ और रूढ़िवादी मानसिकता स्त्री शिक्षा के विकास में प्रमुख बाधा थीं।
5. ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा के प्रारंभिक विकास ने स्वतंत्र भारत में महिला शिक्षा के विस्तार की आधारशिला रखी।

निष्कर्ष : उपरोक्त साहित्य समीक्षा के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश काल भारतीय स्त्री शिक्षा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण रहा है। विभिन्न इतिहासकारों और विद्वानों ने अपने अध्ययनों में यह स्वीकार किया है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान शिक्षा के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए, उन्होंने महिलाओं की शिक्षा के लिए नए अवसर उत्पन्न किए। राम शरण शर्मा के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारतीय समाज की पारंपरिक संरचना में स्त्रियों की शिक्षा सीमित थी, किंतु आधुनिक शिक्षा प्रणाली के आगमन से इस स्थिति में धीरे–धीरे परिवर्तन आया। बिपिन चन्द्र ने यह स्पष्ट किया है कि ब्रिटिश शासन के दौरान लागू शिक्षा नीतियों और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित किया और समाज में इसके प्रति जागरूकता उत्पन्न की। इसी प्रकार सुमित सरकार ने 19वीं शताब्दी के सामाजिक सुधार आंदोलनों को स्त्री शिक्षा के विकास का महत्वपूर्ण आधार माना है। उनके अनुसार समाज सुधारकों जैसे ईश्वरचंद्र विद्यासागर और ज्योतिराव फुले के प्रयासों से बालिका शिक्षा के प्रसार में उल्लेखनीय प्रगति हुई। के. के. दत्ता के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि शिक्षा के प्रसार ने महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस प्रकार साहित्य समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रिटिश काल में शिक्षा नीतियों, मिशनरियों के प्रयासों तथा भारतीय समाज सुधारकों की सक्रिय भूमिका के कारण स्त्री शिक्षा के विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। यद्यपि उस समय सामाजिक रूढ़ियाँ और आर्थिक समस्याएँ इसके मार्ग में बाधा थीं, फिर भी इस काल में स्त्री शिक्षा की जो आधारशिला रखी गई, उसने आगे चलकर स्वतंत्र भारत में महिला शिक्षा के व्यापक विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

संदर्भ सूची

1. प्रभा आप्टेः भारतीय समाज में नारी, क्लासिंक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर , 1996, पृ. सं.– 8
2. विश्व प्रकाश गुप्ता एवं मोहिनी गुप्त, स्वतंत्रता संग्राम एवं महिलाएँ, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1997, पृ. सं.– 4
3. आशा रानी व्होरा, औरत कल आज और कल, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, 2005, पृ. सं.– 5–6
4. गुप्ता, विश्व प्रकाश एवं मोहिनी गुप्ता, स्वतंत्रता संग्राम और महिलाएँ, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ. सं. – 20

5. शर्मा, राम शरण (2019) प्राचीन भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं.– 63
6. चन्द्र, बिपिन (2018) आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, ओरिएंट ब्लैकस्वान, पृ. सं.– 141
7. सरकार, सुमित, (2017), आधुनिक भारत, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं.– 96
8. दत्ता, के. के. (2016) बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, पटना, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. सं.– 124
9. सिंह, के. एन. (2015) भारतीय समाज और शिक्षा का इतिहास, नई दिल्ली, अनमोल प्रकाशन, पृ. सं.– 53

गोलपुर के शैलाश्रयो में चित्रित : वृषभ चित्रण

प्रशान्त सिंह मावई*
डॉ. दीपक सिंह**

सारांश :
शैल चित्र हजारों वर्ष पूर्व के आदि मानव की कृतियॉ है जिनमें तत्कालीन परिस्थितियों, जीवन शैली व लोक अभिरूचि के दर्शन होते है। यह सर्वमान्य सत्य है कि मनुष्य का प्रारम्भिक निवास पहाड़ो की गुफाओं, कंदराओ और शैलाश्रयों से प्रारम्भ हुआ था। हजारों वर्ष तक अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मानव पहाड़ों के इन शैलाश्रयों में ही निवास करता था। शैलाश्रयों में मानव ने अपने तत्कालीन जीवन और परिवेश को भी चित्रित करने का प्रयास किया है। नदियों और झरनों की कल–कल, वृक्षों की हरियाली, उन्मुक्त ठण्डी बयार के पवित्र वातावरण ने मानव को प्रकृति के चित्रण के लिये प्रभावित किया। प्रस्तुत शोध–पत्र निश्चित ही पूर्व शोध–पत्र की पूरक और नये लोगों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होगी। यह अध्ययन अनुसंधान जगत मे ज्ञानमीमांसा के मार्ग को प्रशस्त करेगा और प्रस्तुत शोध पत्र में ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। इस दृश्टि से शोध–पत्र को व्याख्यायित करना मुल्यवान साबित हो सकता है।
मुख्य शब्द : शैल चित्र, आदिमानव, परम्परा, वृषभ चित्रण आदि।

प्रस्तावना : आदिमानव के प्रारम्भिक संघर्षपूर्ण जीवन में पशु पक्षी व वन्य जीवों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसकी जानकारी हमें विभिन्न स्थानों से प्राप्त आखेट दृश्यों युक्त शैलचित्रों से मिलती है। मानवाकृतियों को पशु व वन्य जीवों का आखेट करते हुये बताया गया है। आखेट दृश्य से पृथक स्वतंत्र रीति से भी पशुचित्रण की विश्वव्यापी परम्परा रही है। और यह अधिक प्राचीन सिद्ध हुई है। पशु चित्रण परम्परा बूंदी के शैल चित्रों में प्र्याप्त मात्रा में दिखाई देती है। यहॉ पर पशु चित्रण प्रत्येक शैलाश्रय में भरपूर मात्रा में किया गया है। आखेट दृश्यों से हटकर पशु चित्रण यहॉ पशु पालन एवं अन्य घरेलू उपभोग हेतु भी किया गया है। पशुओं की पीठ पर बैठकर तथा पशु गाड़ियों में बैठकर परिवहन भी होता था।

बूंदी क्षेत्र के सभी स्थलों के पशु चित्रण में सर्वाधिक चित्रण वृषभ का हुआ है। गोलपुर पुरास्थल के विशाल शैलाश्रय से प्राप्त चित्र संख्या 1 एक सुन्दर वृषभ का चित्र है। वृषभ लाल गेरूयें रंग में अंकित व पूरक शैली मैं चित्रित है जिसकी पूंछ अलंकृत है। सींग लम्बे व अन्त में जाकर कुछ नीचे की और झुके हुए है। वृषभ के स्कन्ध को विशेष उभार के साथ प्रदर्शित किया गया है। सम्पूर्ण चित्र को देखने से पशु की मुद्रा प्रर्याप्त सजीव प्रतीत होती है। इसके अलावा बूंदी क्षेत्र के ही गरड़दा पुरास्थल से प्राप्त चित्र संख्या–2 भी एक आकर्षक वृषभ का चित्र है। वृषभ की लम्बाई 8.5 इंच, व चौड़ाई 3.5 इंच तथा पूंछ की लम्बाई 3.5 इंच है। सींगों की लम्बाई 6–6 इंच है। लम्बे व गोल आकृति के सींग अकिंत किये गये है। चित्र का अंकन गेरूयें रंग से किया गया है। रंग अब फीका पड़ गया है। पूरक शैली में चित्रित वृषभ की आकृति बड़ी रोचक प्रतीत हो रही है। वृषभ का मुँह काफी छोटा प्रदर्शित किया गया है। पैर काफी मजबूत प्रदर्शित किए गए है। स्कन्ध को विशेष उभार के साथ चित्रित किया गया है। बैल स्वाभाविक मुद्रा में खड़ा हुआ है। चित्राकृतियॉ ताम्राश्मीय काल की प्रतीत होती हैं।

कन्यादह एंव छिब्बडनाला में भी वृषभ चित्रण प्रर्याप्त मात्रा में है।[1] कोटा के अलनिया के शैलाश्रयों में भी वृषभ चित्रण के उदाहरण मिलते हैं। दर्रा[2] (कोटा) के शैलाश्रयों में भी वृषभ चित्रण प्रमुखता के साथ किया गया है।[3]

बूंदी क्षेत्र के गोलपुर से ही अलंकृत वृषभ का मनमोहक चित्र प्राप्त हुआ है। वृषभ की लम्बाई 27 इंच व चौड़ाई 17.5 इंच है। अर्द्ध पूरक शैली में गेरुये रंग से चित्रित सुसज्जित वृषभ का यह चित्र उठने की मुद्रा में है पीछे उठ चुका है। और आगे उठना चाह रहा है।

---

* शोधार्थी, ज्योति विद्यापीठ महिला विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
** शोध निर्देशक, सह–आचार्य, ज्योति विद्यापीठ महिला विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान

प्रस्तुत चित्र संख्या 2 में प्रदर्शित वृषभ के शरीर के बीच में चार रेखांये चित्रित है। तीन रेखायें एक साथ तथा एक रेखा तीनों से कुछ दूरी पर खीची हुई है। मुँह व ग्रीवा भाग अलंकृत है। गले की रेखाऐं शरीर के अंदर चित्रित तीन रेखाओं को पार कर शरीर के पृष्ठ भाग को छू रही हैं। सींग अलंकृत है। पूंछ व पेर भी प्रदर्शित है। अलंकरण की दृष्टि से यह सर्वोत्तम कृति है। दीपावली के अवसर पर गोवर्धन पूजा के लिए बैलों को इसी तरह सजाया जाता है। पशु जीवन के निकट सम्पर्क, व्यापक अनुभव एवं सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा ही ऐसा आकर्षक चित्रण सम्भव हो सका होगा। चित्राकृतियॉ ताम्राश्मीय–नवाश्मीय कालीन प्रतीत होती है। कोटा के अलनिया[4] व दर्रा[5] पुरास्थल, इमलीखोह (पंचमढ़ी), आदमगढ़ (होशंगाबाद) तथा कन्यादह एंव छिब्बड़नाला में भी सुसज्जित वृषभ चित्रण पर्याप्त मात्रा में है।[6]

बूंदी क्षेत्र के गोलपुर से ही प्राप्त चित्र संख्या –3 एक दीर्घश्रृंग वृषभ का चित्र है। गेरुऐं रंग से अंकित व पूरक शैली में विनिर्मित बैल के सींग काफी लम्बे है सींगों की लम्बाई 4 इंच है। दोनो सींगों के सीरे ऊपर जाकर अन्दर की तरफ झुके हुए है। पूंछ की लम्बाई 3 इंच व पैरों की लम्बाई 3.5 इंच है। बैल के शरीर की लम्बाई 13 इंच व चौड़ाई 3.5 इंच है। स्कन्ध का उभार विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। बैल का मुँह छोटा है। चित्र से लगता है कि बैल अधिक उम्र वाला है। आदमगढ़ (होशंगाबाद) के शिलाश्रय नं. 2 पर अंकित एक उच्च श्रृंग वृषभ जिसके शरीर को खड़ी धारियों से आपूरित किया गया है। सींगों की ऊंचाई और आकृति सिन्धु घाटी से प्राप्त सीलों पर अंकित पशुओं का स्मरण कराती है।[7] भोपाल क्षेत्र के धरमपुरी नामक स्थान के शिलाश्रय से भी इसी प्रकार का अर्द्धपूरक शैली में विरचित वृषभ चित्र मिला है। जिसमें पूंछ को तरंगायित रूप में तथा स्कन्ध को विशेष उभार के साथ चित्रित किया गया है।[8]

गोलपुर से प्राप्त चित्र संख्या–4 में सात वृषभ का चित्र है। जिनमें 6 वृषभ पंक्तिबद्ध खड़े है। एक वृषभ पंक्ति से आगे खड़ा है। पंक्तिबद्ध खड़े 6 वृषभों में से प्रथम वृषभ के सामने आक्रामक मुद्रा में एक वानर चित्रित है। सातवॉ वृषभ जो पंक्ति से आगे खड़ा है का एक सींग अलंकृत है। पूंछ भी अलंकृत हैं। इस चित्र में वृषभ के शिश्न भी चित्रित है। पॉच वृषभों के अलंकृत पूंछ स्पष्ट नजर आ रही है। दो वृषभ की पीठ स्पष्ट नजर नहीं आने से पूंछ दृष्टिगोचर नहीं हो रही हैं। तीन वृषभ के एक–एक सींग अलंकृत है। गोलपुर से ही प्राप्त चित्र संख्या 5 में भी चार वृषभ के चित्र एक साथ चित्रित है। जिसमें वृषभ काफी हष्ट पुष्ट है। तीन वृषभ एक पंक्ति में तथा चौथा वृषभ दूसरी पंक्ति में खड़ा है। प्रथम पंक्ति में तीसरे क्रमांक पर प्रदर्शित वृषभ के सींग अलंकृत है। तीन वृषभ के शिश्न भी चित्रित है। प्रथम पंक्ति में अंतिम छोर पर चित्रित वृषभ का पिछला हिस्सा दिखाई नहीं दे रहा हे। पलका से प्राप्त चित्र संख्या 6 में भी पॉच वृषभ के चित्र प्रदर्शित किए गये है। जिसमें प्रथम व द्वितीय क्रमांक पर प्रदर्शित वृषभ सामान्य आकार वाले है तथा अन्तिम क्रमांक पर प्रदर्शित वृषभ का चित्र लघु आकार का है।

चित्र संख्या 7 जो गोलपुर से प्राप्त हुआ है इसमें दो वृषभ है। इसमें नीचे की ओर प्रदर्शित वृषभ के सींग अलंकृत है तथा ऊपर की ओर प्रदर्शित वृषभ के पैर मजबूत व चारपाई के पायों जैसे है एवं शिश्न भी अंकित है। ग्वालियर के शिलाश्रयों व मिर्जापुर क्षेत्र की कोहबर गुफा आदि से भी वृषभ समूह चित्रण के प्रमाण मिले है।[9]

बूंदी क्षेत्र के गोलपुर पुरास्थल से प्राप्त प्रस्तुत चित्र संख्या 8 पशु चित्रण में वृषभ पालन का एक अत्यधिक उत्क्रष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें एक मानव आकृति दो वृषभों को नियंत्रित किये हुये चित्रित है। वृषभों के सींग ज्यामितीय संतुलन से युक्त है। मानव के बायीं तरफ खड़े हुये वृषभ के सींगों को ट आकार प्रदान करते हुये बाहर की ओर नीचे की तरफ झुकाव दिये हुये प्रदर्शित किया गया है। जबकि दॉयीं तरफ खड़े हुये दूसरे वृषभ के सींगों को ट आकार प्रदान करते हुये ऊपरी सिरे पर वर्तुल आकार देकर अंदर की तरफ झुकाव देते हुये चित्रित किया गया है। वृषभों के प्रजनन अवयव भी प्रदर्शित किये गये है। वृषभों को नियंत्रित कर किसी कृषि कार्य के लिए ले जाते हुये चित्रित किया गया है। वृषभों के चारों पैर व पूंछ स्पष्ट व साफ दृष्टिगोचर हो रहे है। वृषभों के इर्द गिर्द दो मानव व कुछ अन्य पशु नजर आ रहे है। यह घर का दृश्य हो सकता है। जहॉ अन्य पशुओं के साथ घर के अन्य सदस्य भी हैं। अपने पशुओं को पकड़कर ले जाते हुये बहुत से उदाहरण मिल जायेगें। आज भी उत्सवों (दीपावली व गोवर्धन पूजा आदि) पर इसी मुद्रा में पकड़कर वृषभों को पूजन आदि के लिए ले जाया जाता है। यह चित्र प्रारम्भिक ताम्राश्मीय काल का है। विलासगढ़ में इससे काफी समरुपता लिये हुए इसी प्रकार का एक चित्र प्राप्त हुआ है।[10]

इससे इनकी आदिकालीन आर्थिक संस्कृति की जानकारी ज्ञात होती है। शारीरिक अवयवों का इसी तरह चित्रण जम्बूद्वीप के शिलाश्रय नं. 1 पर अंकित वृषभ के चित्र में भी किया गया है।[34] समूह में मानव

आकृतियों एवं पशुओं को एक साथ चित्रण हमें विदेशों में भी कई स्थानों पर प्राप्त हुआ है इससे हमें आदिमानव द्वारा पशुपालन एवं जीविकोपार्जन का संकेत मिलता है। दक्षिण अफ्रिका के हरसेल (भ्मत्ेबीमस) जिले की रिपन्युजी गुफा में मानव आकृतियों के साथ पशुओं का अद्‌भुत चित्र प्राप्त हुआ है। इसमें मानव वृषभों को रस्सी से बांधकर सामूहिक रुप में पकड़े हुये हैं। सम्भवतया वे इनको एक साथ पकड़कर ले जा रहे है। अन्य समूह में वृषभों के एक दूसरे से रस्सी बंधी हुई है। एच.सी. वुडहाउस ने इसे जादुई ताकत बताया है। और यह उनकी भावात्मक (उलेजपबंस) एकता का प्रतीक बतलाया है।[11]

सन्दर्भ :

1. बादाम एण्ड प्रकाश – ''टेन्टेटिव आइडेन्टीफिकेशन ऑफ दी एनीमल्स डिपिक्टेड इन रॉक आर्ट ऑफ दी अपर चम्बल वैली'' पुराकला 1992, वाल्यूँम 3 सं. 1–2, पृष्ठ 72–73
2. डॉ. एम. एल. साहू – अलनिया के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, शोध ग्रन्थ, पृष्ठ 91–92
3. डॉ. तेजसिंह मावई – दर्रा के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, शोध ग्रन्थ, पृष्ठ 126–132
4. डॉ. तेजसिंह मावई – दर्रा के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ–132
5. डॉ. जगदीश गुप्त – प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला पृष्ठ–160,161,194
6. बादाम एण्ड प्रकाश – ''टेन्टेटिव आइडेन्टीफिकेशन ऑफ दी एनीमल्स डिपिक्टेड इन रॉक आर्ट ऑफ दी अपर चम्बल वैली'' पुराकला 1992, वॉल्यूम 3 सं. 1–2, पृष्ठ 72–73
7. डॉ. जगदीश गुप्त – प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला पृष्ठ संख्या– 161
8. डॉ. जगदीश गुप्त – प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला पृष्ठ संख्या–163
9. निरदीप – ''एलीमेंन्टस आफ मॉडर्न आर्ट इनरॉक आर्ट'' पुराकला, 1991, वॉल्यूम 2, पृष्ठ 45
10. डॉ. जगदीश गुप्त – प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला पृष्ठ 166, 201
11. हेराल्ड पेजर – सम ट्रान्सपरफोरमेंस डॉक्यूमेन्ट्स इन दी एथनोलोजिकल रिपोर्ट्स एण्ड रॉक पेटिंग्स ऑफ साउथ अफ्रीका रॉक आर्ट रिसर्च 1994, वाल्यूँम 11, संख्या 2 पृष्ठ 98

उत्तर मध्यकाल (13वीं–18वीं सदी) में आत्मनिर्भर उत्पादन प्रणाली

श्याम बाबू शुक्ला*
प्रो. अरविन्द कुमार त्रिपाठी**

सारांश :

मध्यकाल में बडे पैमाने पर सभी वस्तुओं का निर्माण नहीं हुआ करता था। यद्यपि इस काल में उद्योग ग्रामीण एवं शहरी भागों में स्थापित थे मध्यकाल में दिल्ली सल्तनत से लेकर मुगलकाल तक कारखानों की स्थापना दो रूपों में दिखायी पडती है इनमें प्रथम शाही कारखाने, दूसरे सामान्य व्यावसायिक संगठनों द्वारा संचालित कारखाने होते थे। शाही कारखानों की स्थापना के पीछे यह तर्क दिया जाता है कि शासकीय जरूरत की बहुत सी ऐसी वस्तुएँ थी जिनकी उपलब्धता पर्याप्त मात्रा में बाहर से नही हो सकती थी। एक अन्य कारण शासकीय परिवार की निजी जरूरते एवं साम्राज्य की सुरक्षा का भाव होना था और ऐसा शायद आज भी विश्व के सभी देशों में कल–कारखानों उद्योगों की स्थापना साम्राज्य की सुरक्षा व जरूरतों को ध्यान में रखकर किया गया है जिसे वर्तमान में 'मेक इन इंडिया' नीति का पूर्वगामी माना जा सकता है। मध्यकालीन उद्योग व कारखानों को स्थापित करवाए जाने में प्रान्तीय सूबेदारों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही जिन्होंने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ–साथ बादशाह व सुल्तानों को भेंट देने के लिए उत्तम व कुशल–कारीगरों की खोज करके वस्तुओं का निर्माण करवाया और इस प्रकार से मध्यकाल में उद्योगों व कारखानों की स्थापना से इस काल में तकनीकी विकास शहरीकरण तथा ग्रामीण एवं शहरी जनजीवन में आर्थिक परिवर्तनों को पर्याप्त रूप से समझ सकते हैं। जिसके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी हमें शासकों के समकालीन दरबारी विद्वानों, विदेशी यात्रियों के विवरण एवं आधुनिक इतिहासकारो की पुस्तकों से प्राप्त होता है। शासकों द्वारा जारी किये गये फरमानों, अमीरों के नाम लिखे गये पत्रों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

मुख्य शब्द : कारखाना (वस्तु उत्पादन), हुण्डी, नगरीय क्रान्ति,शहरीकरण, ददनी प्रथा आदि।

प्रस्तावना : : भारत में कारखानों (उद्योगशालाओ) का आरम्भिक इतिहास हमें प्रागैतिहासिक काल से दिखायी देता है। इस काल का मानव अपना जीवन निर्वाह 'शिकार' द्वारा पूरा करता था ऐसे में उसने पशुओं के शिकार हेतु पत्थर के बडे –बडे औजारों का निर्माण किया। इस काल में औजारों का साक्ष्य सम्पूर्ण भारत में उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। समयान्तर प्रागैतिहासिक काल का मानव लगातार बौद्धिक विकास के साथ तकनीकी विकास के उन्नति स्तर को प्राप्त करके धातु एवं लौहे काल तक की संस्कृति तक पहुँचा जिसके द्वारा उपयोग में लायी गयी सामाग्री का साक्ष्य उत्खनन से प्राप्त होता है जिनमें पत्थर, हड्डी, ताँबे, काँसे एवं लौह उपकरणों के साथ–साथ सोना, चाँदी, मिट्टी के बर्तन इत्यादि पुरातात्विक वस्तुओं के निर्माण की जानकारी होती है। तदनान्तर ऐतिहासिक काल में भारत में वास्तविक कारखानों का प्रसंग मौर्य साम्राज्य, दिल्ली सल्तनत में अलाउद्दीन खलजी तथा फिरोज शाह तुगलक के काल में देखा जा सकता है।[1]

दिल्ली सल्तनत में आर्थिक आत्मनिर्भरता : के०एम० असरफ के अनुसार मध्यकाल में कारखानों का विचार 'फारस' से आया।[2] किन्तु ऐसा मानना तर्कसंगत नही होगा क्योंकि भारत में कारखानों की स्थापना एवं व्यवस्थित संगठन की जानकारी मौर्य काल से देखी जा सकती है। मुगल काल से पहले कारखानों की स्थापना का उल्लेख हमें दिल्ली सल्तनत में प्राप्त होता है और जिसकी निरंतरता व विकास को मुगलकाल में देखा गया है। भारत में तुर्क शासकों के आगमन को प्रोफेसर मुहम्मद हबीब ने नगरीय क्रान्ति की संज्ञा दी जिसमें सल्तनत से जुडे आर्थिक परिवर्ततनों का भिन्न मूल्यांकन वर्ष 1952 में पेश किया था।[3] सल्तनत काल में भारत एक समृद्धशाली देश के रूप में स्थापित हो चुका था जहाँ ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योगों से लेकर शहरी उद्योगों (कारखानों) की स्थापना दिल्ली के सुल्तानों ने की थी। इनमें अलाउद्दीन खिलजी ने साम्राज्य की आय में वृद्धि हेतु भूराजस्व व्यवस्था एवं मूल्य नियंत्रण प्रणाली पर बल दिया तो फिरोजशाह तुगलक ने नगरों

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, डी.एस.एन. कॉलेज, उन्नाव (सी.एस.जे.एम.यू.) कानपुर, उ0प्र0
** शोध निर्देशक, इतिहास विभाग, डी.एस.एन. कॉलेज, उन्नाव (सी.एस.जे.एम.यू.) कानपुर, उ0प्र0

(शहरों) की स्थापना एवं कारखानों के निर्माण हेतु सुदृढ इच्छाशक्ति का परिचय दिया। मोहम्मद हबीब की रचना 'सुल्तान महमूद ऑफ गजनी' व अन्य रचनाओं से स्पष्ट नया शासन उस पुराने शासन से गुणात्मक रूप से भिन्न था जिसकी जगह दिल्ली सल्तनत ने ली थी। प्रो० हबीब का मानना है कि दिल्ली सल्नत की अर्थव्यवस्था पहले की अर्थव्यवस्था का मात्र सातत्य नही थी।

इस बात के पर्याप्त साक्ष्य मौजूद हैं कि दिल्ली सल्तनत में नगरीय अर्थव्यवस्था का अच्छा खासा प्रसार हुआ जिसकी पुष्टि मुख्यतः तीन महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है– प्रथम नगरों के आकार व जनसंख्या में बढोत्तरी, द्वितीय– हस्तशिल्प व दस्तकारी उत्पादन में वृद्धि एवं तीसरी विशेषता व्यापार बढोत्तरी का होना था।

मुहम्मद बिन तुगलक के राजधानी परिवर्तन (1327) के बाद 'इब्नबतूता' 1333 में दिल्ली पहुँचा जिसने दिल्ली के आकार व जनसंख्या का उल्लेख किया जबकि इस समय तक काफी जनसंख्या दिल्ली से दौलताबाद जा चुकी थी। फिर भी पूरे इस्लामी राज्य में दिल्ली को सबसे बडा नगर कहा।[4] दौलताबाद का आकार भी दिल्ली के लगभग बराबर का था।[5] अनेक दूसरे बडे नगर भी दिल्ली सल्तनत में नगरीय दस्तकारी व तकनीक के महत्वपूर्ण केन्द्रों के रूप में स्थापित थे जिनमें लाहौर, मुल्तान, अहिलन्वाड कैम्बे और लखनौती थे जिनका वर्णन इब्नबतूता के यात्रा विवरण में प्राप्त होता है।

सल्तनतकाल में हस्तशिल्प पर आधारित उद्योगों की प्रगति निर्णायक ढंग से हुई। नमक, लोहा, ताँबा की अधिकता थी जबकि सोना व चाँदी की मात्रा कम थी। हीरे एवं बहुमूल्य रत्नों का कारोबार आम था। 14वीं सदी में पहली बार भारत में 'चरखे' की जानकारी इसामी की रचना 'फुतूह–उस–सलातीन' (1350 ईस्वी) से प्राप्त होती है। जो आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की महत्व पूर्ण कडी साबित हुई यह एक ऐसा यंत्र है जिस पर स्त्रियों को काम करना चाहिए।[6] चरखे के प्रयोग से सूती कपडों के उत्पादन में कई गुना वृद्धि हुई। मोटे सूती कपडे (पट) से लेकर उत्तम कोटि का मलमल सल्तनत काल में उत्पादित होता था। रेशमी व सुनहरे काम वाला पटोला वस्त्र गुजरात में उत्पादित होता था। यद्यपि उच्च कोटि की कालीन व रेशम का आयात ईरान से आयात होता था जबकि 'शाल' कश्मीर से मँगायी जाती थी।

दिल्ली सल्तनत में 'भवन निर्माण' के कारखानों भी स्थापित किये गये थे जिनका संचालन राज्य के हाथों में था। दिल्ली के सुल्तानों ने शाही भवनों का निर्माण कराया था। 'बरनी' के अनुसार अलाउद्दीन ने 70,000 मजदूरों को भवन निर्माण में लगाया था। दिल्ली सुल्तानों के अपने शाही जरूरतों व पारिवारिक उपयोग की जरूरतों के लिए अपने निजी कारखाने होते थे। उदाहरण के लिए मुहम्मद बिन तुगलक के कारखाने में रेशमी वस्त्र उत्पादन हेतु चार हजार (4000) कारीगर लगे थे। जबकि फिरोज के समय में कारखानों से प्रतिवर्ष 6 लाख टका मूल्य के कपडे तैयार किये जाते थे। इसके समय कुल कारखाने 36 (छत्तीस) थे।

कपास धुनने की 'कमान' भारत में बारहवीं सदी से पहले ही प्रचलन में था। लेकिन यह 13वीं, 14वीं सदी में ही पूरी तरह से व्यापक रूप में सामने आया।[7] इसी प्रकार 14वीं सदी तक ट्रेडिन (करघा) भी आरम्भ हो चुका था जिसका प्रमाण सत्रहवीं सदी के लघुचित्र में कबीर को करघे पर बैठा हुआ दिखाया गया है।[8]

दिल्ली सल्तनत में विलासिता की एक और सामाग्री रेशमी वस्त्रों का उत्पादन होना था। दिल्ली सल्तनत से पहले भारत में शहतूत पर रेशम के कीडे पालने का प्रचलन नहीं था। रेशम कीट पालन का **प्रथम साक्ष्य भारत में पन्द्रहवीं सदी** के आरम्भ में बंगाल में देखने को मिला।[9]

दिल्ली सल्तनत में विनिर्माण की अन्य दस्तकारियों का भी आरम्भ हुआ जिनमें कागज, शक्कर, नील, शोरा आदि कुटीर उद्योग के रूप में स्थापित थे। इनमें कागज का उत्पादन सर्वाधिक उल्लेखनीय है। **भारत में कागज का सबसे प्राचीन प्रमाण** तेरहवीं सदी के आरम्भ का गुजरात में है।[10]

दिल्ली सल्तनत में कारखानों की स्थापना के साथ–साथ इनसे उत्पादित वस्तुओं का निर्यात व बाहर से वस्तुओं का आयात, स्थल एवं समुद्री मार्ग, महत्त्वपूर्ण व्यापारिक स्थलों, सिक्कों का प्रचलन तथा हिन्दू एवं मुस्लिम व्यापारियों (बोहरा व खुरासानी) इत्यादि आर्थिक वृद्धि में पर्याप्त रूप से सहायक रहे हैं।

मुगलकाल में आर्थिक आत्मनिर्भरता : दिल्ली सल्तनत में स्थापित उद्योग एवं कारखानों एवं तकनीक का विकास एवं विस्तार की व्यापकता 'मुगल काल' में देखी जा सकती है। मुगलकाल में शहरों के विकास एवं वृद्धि को उद्योग एवं कारखानों से जोडकर देखा जा सकता है। मुगल काल में 1556–1707 का काल आर्थिक दृष्टि से गौरव का काल माना जाता है। यह पहला काल है जिसके लिए फारसी, राजस्थानी, मराठी व दूसरी

भाषाओं में वे चीजें सुरक्षित हैं जिन्हें मूल दस्तावेज कहा जाता है। जैसे रिकार्ड, खत, पट्टे, बैनामे, अदालती फैसले, व्यापारिक कागजात आदि है। अबुल फजल की 'आइन–ए–अकबरी' जो अकबर की शासन व्यवस्था का सांख्यिकीय दस्तावेज एवं अली मुहम्मद खान की 'मीरात–ए–अहमदी' (1761) उल्लेखनीय है।

यूरोपीय वृतान्त, विशेष रूप से ब्रिटिश एवं डच, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रिकार्ड विदेशी एवं आन्तरिक दोनों की व्यापारिक, गतिविधियों की महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं। फ्रांसिस्को पेलसेयर की रचना शरिमाशत्रेशीष (1626) व वर्नियर की फ्रांसीसी रचना 'ट्रैवेल्स' उल्लेखनीय है।

मुगल भारत के आर्थिक इतिहास आधुनिक विकास व विस्तार के सम्बन्ध में जानकारी के स्रोतों में आधुनिक इतिहासकारों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों से इसकाल की शहरी व ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित कल–कारखानों एवं कुटीर उद्योगों के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इस कड़ी में मोरलैण्ड की रचना 'इण्डिया एट द डेथ ऑफ अकबर (लंदन–1920) अग्रणी पुस्तक है जिसमें मुगल शासकों की भू–सम्बन्धी नीतियों का जिक्र किया गया है।

अकबर के शासनकाल में मुगल साम्राज्य में 120 नगरों और 3200 कस्बों का उल्लेख मिलता है।[11] जिनमें आगरा और दिल्ली आबादी के लिहाज से बड़े नगर थे। यूरोपीय यात्री फिंच के अनुसार आगरा और लाहौर–लंदन व पेरिस से बड़े थे। इन केन्द्रों में प्रशासनिक केन्द्र के साथ–साथ व्यापारिक केन्द्रों का संकेन्द्रण था जहाँ विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन हेतु कारखानों की स्थापना शासकों ने करवायी थी जिनमें कुछ शाही कारखानों के रूप में तो कुछ स्वतंत्र व्यवसायिक संगठनों द्वारा संचालित थे।

मुगलकालीन शाही कारखाने में सभी प्रकार की वस्तुएँ बनायी जाती थी। वस्त्र उद्योग में मुख्यतः सूती, ऊनी एवं रेशमी कारखाने, कालीन निर्माण, आभूषण, तोपें, बंदूक, तलवारें, बर्तन, जूते एवं फर्नीचरों का निर्माण शाही संरक्षण में शासकीय सुरक्षा व शाही जरूरतों को ध्यान में रखकर किया जाता था।

मुगलकालीन शाही कारखानों के उत्पादन में शहरी आबादी का महत्वपूर्ण योगदान रहा। शहर उत्पादन कार्यों में लगे लोगों की बड़ी संख्या में आश्रय स्थल थे।[12] स्त्रियों के श्रम का व्यापक संदर्भ प्राप्त होता है। उन्हें घर पर कताई के कार्य में, तो बाहर निर्माण स्थलों पर ईंट–पत्थर की ढुलाई व गारे के निर्माण में कार्य करने का संदर्भ मुगल लघु चित्रों में प्राप्त होता है।[13]

गाँव में बाहर दस्तकारों के उत्पादन पर सौदागरों का वर्चस्व था जो अग्रिम धनराशि देकर (ददनी प्रथा) दस्तकारों से अपनी आवश्यकता के अनुरूप मात्र उत्पादन का करार करते थे। कुछ दस्तकार अपने कीमती माल उत्पादन के लिए अपने कारखाने स्वयं स्थापित करते थे जिन्हें वे 'उजरती' मजदूरों की सहायता से चलाते थे।[14]

मुगलकाल में गैर कृषि उद्योग कारखानों के साथ–साथ ग्रामीण स्तर पर कृषि आधारित लघु उद्योगों के कारखाने स्थापित थे जहाँ छोटी–छोटी स्थानीय आवश्यकताओं वाली वस्तुओं के उत्पादन का कार्य किया जाता था। ऐसे उद्योग कुटीर उद्योग कहलाते थे। कृषि आधारित कारखानों में मुख्यतः धान ढुलाई, तेल पेराई, रस्सी व डलिया बनाने, रेशम कीड़े का पालन तथा कपास के बीजों को निकालने, नील, शोरा का उत्पादन, गुड़ व शक्कर निर्माण के कारखाने संचालित थे। कृषक अपने परिवार के साथ अन्न उत्पादन के साथ–साथ अतिरिक्त समय पर इन वस्तुओं का उत्पादन करके शहरी जरूरतों की पूर्ति करके अपनी आय में अतिरिक्त वृद्धि का प्रयास करते थे।[15]

मुगलकालीन कारखानों का संगठन एवं संचालन की आत्मनिर्भरता : मुगलकालीन कारखाने अपनी स्थापना के आधार पर दो रूपों में स्थापित थे प्रथम ग्रामीण कारखाने व दूसरे शहरी उद्योगशालाएँ थी। किन्तु इन उद्योगशालाओं का संचालन अधिकारिता के आधार पर दो रूपों में बँटा था इनमें कुछ कारखाने विशुद्ध रूप से शाही नियंत्रण में संचालित थे तो कुछ स्वतंत्र संगठनों द्वारा संचालित थे।

कारखानों का शाब्दिक अर्थ उस जगह से होता है। मध्ययुग में कारखाना का अभिप्राय, उत्पादन, भण्डारण, क्रय विक्रय आदि से होता था जहाँ वस्तुओं के निर्माण हेतु शिल्पियों एवं कारीगरों का समूह एवं अलग–अलग प्रकार की कार्यशालाओं का एवं शिल्प शालाओं का समूह होता है। मुगलकाल में मुगल शासन के अन्तर्गत इस्लामिक सत्ता का चरमोत्कर्ष मुख्य रूप से अकबर के शासनकाल से लेकर औरंगजेब के शासनकाल (1556–1707) तक को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास के उत्कर्ष का काल माना जाता है। व्यापक साम्राज्य विस्तार के कारण मुगल शासकों को एक स्थिर व सुदृढ़ शासन व्यवस्था स्थापित करने हेतु एक सुदृढ़ अर्थव्यवस्था की जरूरत थी इसे ध्यान में रखकर मुगल शासकों ने न

केवल अपने पूर्वगामी शासकों की आर्थिक नीतियों को आगे बढ़ाया अपितु अपने शासनकाल में महत्वपूर्ण आन्तरिक शांति व सुव्यवस्था की स्थापना तथा वाह्य देशों से व्यापारिक सम्बन्धों का लाभ उठाने का भरसक प्रयत्न किया तथा वैज्ञानिक व तकनीकी विकास पर पर्याप्त बल देते हुए अपने साम्राज्य के भीतर अनेक प्रकार के उद्योगशालाओं की स्थापना करवायी ताकि राज्य व जनसामान्य लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं स्वयं की शाही जरूरतों को स्थानीय स्तर से पूरा किया जा सके। मुगल कारखानों की देखभाल के लिए एक मंत्री स्तर का पद व विभाग होता था जहाँ एक श्रेणी क्रम में सभी व्यक्तियों के कार्य व उत्तरदायित्व निर्धारित कर दिये गये थे।[16] सबसे बड़ा पदाधिकारी मीर–ए–सामा होता था।

विभाग के वित्तीय पूर्ति का कार्य 'दीवान–ए–बयूतात' का था। दीवान की सहायता हेतु एक अधिकारी 'नजीर' होता था जो वित्तीय आय–व्यय का पुनः निरीक्षण करता था। 'मुशरिफ' वह अधिकारी था जो प्रत्येक कारखाने में नियुक्त किया गया था जिसका कार्य अग्रिम धन, कच्चे माल की उपलब्धता तथा प्रतिदिन के लेन–देन को लिखा जाना था। इसी प्रकार प्रत्येक कारखाने में एक दरोगा, एक तहसीलदार, एक मुस्तौफी तथा दरोगा–ए–कचहरी होता था। दरोगा का कार्य–दस्तकारों व शिल्पियों में कार्य का वितरण, कच्चा माल उपलब्ध करवाने, उत्पादित माल की मात्रा को लिपिबद्ध करना था। दरोगा धन व कच्चे माल तहसीलदार से प्राप्त करता था। मुस्तौफी–ए–मुसरिफ, दरोगा तथा तहसीलदार द्वारा दिये गये हिसाब की जाँच करता था और दीवान–ए–बयूतात के सम्मुख रखता था। दरोगा–ए–कचहरी का कार्य, इन सभी अधिकारियों के कार्यों को बनाये रखना था। कागजों का सर्कुलेशन, खजाने से कारखानों हेतु धन लाना था।

मीर–ए–सामा वर्ष में दो बार, कारखानों पर किये गये कार्य की सूचना, उन पर व्यय की गयी पूँजी व अपने विभाग का खर्च बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करता था।

मुगलकालीन महत्वपूर्ण उद्योग एवं औद्योगिक स्थल : मुगल बादशाहों ने कारखानों एवं उसमें बनायी जाने वाली वस्तुओं के निर्माण में विशेष रूचि ली। दिल्ली सल्तनत की तुलना में मुगल शासकों के पास पूँजी अधिकता के कारण उन्होंने अपने कारखानों की स्थापना किसी व्यापारिक उद्देश्यों के लिए न करवाकर केवल अपनी जरूरत व शाही जरूरतों के लिए करवायी। दूसरी ओर शाही आवश्यकता की बड़ी मात्रा की आपूर्ति उस समय के कुटीर उद्योग नहीं कर सकते थे। आइने–ए–अकबरी में सम्राट अकबर द्वारा शाही कारखानों की स्थापना लेकर उत्तम किस्म की वस्तुओं के उत्पादन पर व्यक्तिगत रूचि लिए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। उसने आगरा, फतेहपुर सीकरी, लाहौर, अहमदाबाद में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन हेतु अलग–अलग कारखाने खुलवाये। जहाँ वह देश–विदेश के कुशल कारीगरों को बुलाकर नियुक्त करता था। 'फादर मोसरात' भी लिखता है कि अकबर स्वयं खड़े होकर कारीगरों के कार्यों की जाँच–परख करता था।

जहाँगीर के समय में कुशल व अनूठी वस्तुओं का निर्माण करवाने तथा कारीगरों को वेतन दिए जाने साक्ष्य प्राप्त होता है। इसका एक उदाहरण जहाँगीर द्वारा सौ तोले का उल्का पत्थर और सामान्य लोहे के मिश्रण से उस्ताद दाउद द्वारा एक तलवार, एक चाकू व एक छुरी का निर्माण करवाया गया। उसने ऊनी वस्त्रों के निर्माण हेतु लाहौर में अनेक कारखाने स्थापित किये।

शाहजहाँ के शासन काल में शाही कारखानों का संचालन अबाध गति से चलता रहा। शाहजहाँ ने कश्मीर एवं लाहौर में श्रेष्ठ स्तर के कालीन उद्योगों की स्थापना की। गृह–उद्योगों को शाहजहाँ कितना प्रश्रय देता था कि बेटी बेगम साहिब के स्वस्थ्य होने की कामना हेतु माँगी गयी पाँच लाख रुपये की मन्नत राशि को मक्का में नगद न भेजकर अहमदाबाद से उतनी धनराशि का माल खरीदकर भेजने का आदेश दिया। उसने तृणमणि से बना दीपाधार को बनवाकर मक्का भेजा था जिसकी कीमत उस समय लगभग ढ़ाई लाख थी। औरंगजेब भी अपनी दक्षिण सूबेदारी के समय यह प्रयास किया कि मछलीपत्तनम के कपड़ा–छपाई वाले कारीगरों को दिल्ली व आगरा भेज दिया गया।[17]

मुगल सम्राटों की भाँति प्रान्तीय सूबेदारों ने भी अपने संरक्षण में हस्तशिल्प सम्बन्धी कारखानों की स्थापना पर बल दिया। ऐसा ही एक उदाहरण बंगाल का मुगल सूबेदार 'इस्लाम खाँ' जब राजधानी राजमहल से ढाका ले गया और उसने वहाँ विविध शिल्पकारों को बुलाकर अलग–अलग प्रकार के कारखानों का निर्माण करवाया। इस प्रकार से इन कारखानों में कपड़ा, चमड़ा, धातु, चीनी व जहाज निर्माण के उद्योग स्थापित किये गये थे।

निर्माण तकनीक में आत्मनिर्भरता : मुगलकालीन कारखानों से उत्पादित वस्तुओं की निर्माण शैली उन्नति कला व तकनीक की परिचायक रही है। वस्त्र उत्पादन में चरखे एवं करघे का विकास, धातुओं को गलाने, मिश्र

धातुओं के निर्माण, मूर्तियों या अन्य वस्तुओं को ढलाई विधि, आभूषण निर्माण में धातु अनुपात की निश्चित मात्रा एवं रंग संयोजन तथा अस्त्र–शस्त्र निर्माण में मुगल शासकों अकबर से लेकर औरंगजेब तक ने तकनीक विकास पर विशेष बल दिया।

मुगल काल में लोहे को गलाये जाने, इस्पात निर्माण, ताँबा में टिन मिलाकर काँसा व ताँबे में जिंक मिलाकर पीतल तैयार किया जाता था। कुछ वस्तुएँ ढलाई तकनीक से तैयार की जाती थी जो लोहे, ताँबे, पीतल, काँसे, सोने व चाँदी की बनी होती थी। ढलाई दो प्रकार की होती थी, एक ठोस ढलाई व दूसरी खोखली। भारत में ढलाई प्रणाली का उल्लेख मुगलकाल से पहले राजपूत काल में दक्षिण के शासक सोमेश्वर भल–लोकमल्ल की रचना मानसोल्लास या अभिज्ञालाषितार्थ चिंतामणि से प्राप्त होता है।

अकबर कालीन विज्ञान एवं तकनीक के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी अबुल फजल की 'आइन–ए–अकबरी' से प्राप्त होती है। अबुल फजल लिखते हैं कि अल्लाह ने चार बुनियादी तत्त्वों यथा आग, पानी, हवा एवं पृथ्वी को बनाया है तथा प्रत्येक पक्ष के अपने–अपने गुण होते हैं। धातु रसायन के सम्बन्ध में भी अबुल फजल को गूढ़तम जानकारी थी। उसने बताया कि जब गंधक (सल्फर) सफेद हो और मात्रा में पारे (मरकरी) से कम हो तो चाँदी बनती है। अगर गंधक व पारा दोनों बराबर मात्रा में नहीं तथा गंधक लाल रंग का हो तो सोना पैदा होता है।[18]

अबुल फजल इस बात को लेकर अधिक चिंतित था कि जस्ते का वर्गीकरण कैसे किया जाय। अन्ततः वह इस धातु का वर्णन उसके स्थानीय स्रोत नाम (जस्त) और जस्ते के ऑक्साइड (फारसी नाम–ः हे तूतिया) के आधार पर करता है। अबुल फजल लिखता है कि टिन कोढ़ ग्रस्त चाँदी व काँसा–कच्चा सोना होता है, और रसायन धातु का जानकार इन्हें शुद्ध अवस्था में ला सकता है।[19]

आइन–ए–अकबरी में अबुल फजल ने बुनियादी रंगों और इनके संयोजन से उत्पन्न होने वाले रंगों के बारे में व्याख्या की है। उसके अनुसार सफेद व काले रंग को सभी रंगों का आधार माना गया है। यदि थोड़े से काले रंग के साथ अधिक मात्रा में सफेद मिलाया जाय तो पीला, बराबर मात्रा में दोनों मिलाए जाय तो लाल एवं थोड़ा सफेद, ढेर काला के संयोजन से हरा रंग बनता है।

आइन–ए–अकबरी में सोने की शुद्धता मापने के सम्बन्ध में आंशिक जानकारी प्राप्त होती है। शाही टकसालों का वर्णन करते हुए अबुल फजल अयस्कों से सोना, चाँदी व ताँबे को अलग करने तथा कारीगरों (शिल्पियों) द्वारा शाही कानून मापदण्डों के अधीन उनका शुद्धीकरण करने की जानकारी देता है।[20]

धातु के अलावा अबुल फजल रसायन तकनीक से बनायी जाने वाली महत्वपूर्ण वस्तुओं का जैसे इत्रों की कशीद, साबुन निर्माण, शोरे के उपयोग से पानी को ठण्डा करने की कला, कागज निर्माण व शराब के कशीद के तरीकों की व्याख्या भी करता है।[21]

अबुल फजल, तोप और तोड़ेदार बंदूक के निर्माण तकनीक का उल्लेख भी करता है। एक ही समय में 16 तोपों की नालियों की सफाई करने उन्हें चिकनी बनाने और घिरींदार चलती गाड़ी में गेहूँ पीसने वाली मशीनों का वर्णन करता है।

उपर्युक्त धारणाओं के अलावा आइन–ए–अकबरी में कुछ अध्याय भूगोल, गणित, प्राकृतिक इतिहास, भौतिक विज्ञान, आयुर्विज्ञान, अक्षांश, देशांतर व पृथ्वी की परिधि का तथा सौर पंचांग की कठिनता के विकल्प रूप में इलाही पंचांग की शुरूआत इत्यादि का वर्णन प्राप्त होता है।[22]

इसी प्रकार सम्राट अकबर की विज्ञान व तकनीक के क्षेत्र में उसकी समझ उसे सबसे अलग बनाती है, जैसे कि उसके द्वारा मदरसा की शिक्षण पद्धति में वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन पर बल दिये जाने के संदर्भ को समझा जा सकता है।

उपसंहार : वस्तुतः मुगलकालीन कारखाना प्रणाली एवं तकनीक 16–17वीं सदी को अर्थव्यवस्था के वृद्धि व विकास की आधार थी जिसके प्रभाव से मुगल अर्थव्यवस्था में एक परिवर्तन देखने को मिलता है। मुगलकालीन कारखाना व विकास की प्रणाली थी जिस पर मुगलकाल की जनसंख्या का अधिकांश भाग अपनी जीविका निर्वाह हेतु गाँव से लेकर नगरों तक एक–दूसरे के पूरक रूप में परस्पर सम्बद्ध था। इस कारखाना प्रणाली ने शाही अर्थव्यवस्था को न केवल एक मजबूत आधार प्रदान किया, अपितु इसने इस काल राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सकारात्मक भूमिका का निर्वहन किया। 16–17वीं सदी में इस लघु उद्योगों के स्वरूप वाली परम्परागत प्रणाली से राज्य की कुल आय विश्व उत्पादन में 25–30 प्रतिशत का योगदान था जिसके वृद्धि एवं विस्तार में मुगल शासकों की व्यक्तिगत रूचि थी। जैसा कि उन्होंने समयदृसमय पर किसानों

व दस्तकारों को करो में छूट देने का कार्य किया तथा जिनके प्रयासों से राज्य में, कपड़े मसाले, नील, शोरा, गन्ना, चीनी, धातु निर्माण के क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि व विकास देखा गया जिससे उस काल में रोजगार की अपार संभावनाओं को जन्म दिया तथा उत्पादित वस्तुओं के प्रचारदृप्रसार एवं विक्रय के लिए 'मीना बाजार' के लगवाये जाने पर बल दिया। वर्तमान भारत सरकार द्वारा परम्परागत उद्योगों के आर्थिक महत्व को ध्यान में रखकर चलाए जा रहे प्रमुख कार्यक्रमों का संचालन जैसे मेक इन इण्डिया, कौशल प्रशिक्षण मिशन, दस्तकारों, बुनकरों, किसानों हेतु संचालित कल्याणकारी योजनाओं का आरम्भिक पुट मुगलकाल से दिखाई देता है। समस्त उत्तर भारत में एक अफगानिस्तान से बंगाल तक एक प्रकार की उत्पादन व निर्माण पद्धति वाला स्वरूप स्थापित था। इस प्रकार से वर्तमान भारत की बढती जनसंख्या व रोजगार के दबाव से मुक्त होने का एक मात्र तरीका मुगलकालीन कारखाना आधारित परम्परागत व्यवस्था को पुनः स्थापित किया जाना चाहिए जिसका समर्थन गाँधी जी ने अपने सर्वोदय आन्दोलन में करके आत्मनिर्भर ग्राम समाज की परिकल्पना पर बल दिया था।

सन्दर्भ :

1. पाण्डेय, जे०एन०, भारतीय कला एवं पुरातत्व (2002) प्राच्य विद्या संस्थान, बी–78 गोविन्दपुर, इलाहाबाद, पृ0–216
2. वर्मा, हरिश्चन्द्र, भाग–द्वितीय, मध्यकालीन भारत (1540–1761) वर्ष 2000 हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ0–342
3. इलियत एवं डासन की पुस्त हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज गोल्ड बाई इट हिस्टोरियन्स, के नए संस्करण के लिए हबीब एम० मुहम्मद की प्रस्तावना, खण्ड–2, अलीगढ़, 1952, पृ0–1–102
4. इब्नबतूता, रिहला पाठ (बैःत1964, पृ0–414–15
5. उपरोक्त, पृ0–547
6. इसामी, फुतूह उस्सलातीन (सं० ए०एस० उषा मद्रास, 1948), पृ0–134
7. टेक्नोलॉजिकल चौलेंज एण्ड सोसायटी इन द थर्टीन एवं फोर्टिया सेंचुरी पूर्वोक्त, पृ0–7–8
8. एलबमम ऑफ इंडियन एण्ड पर्शियन मिनिएचर्स, मास्को 1962, पृ0–66
9. माच्चान, इंग–यई, शेंग–लन (अनु जे०बी० मिल्स कैम्ब्रिज 1970, पृ0–163)
10. सरकार, डी०सी० इंडियन एपीग्राफी (दिल्ली 1967), पृ0–183
11. अहमद, निजामुद्दीन, तबकात–ए–अकबरी, सं० : वरुण डे और एम० हिदायत
12. मुगल भारत में गैर खेतिहर उत्पादक वर्ग के लिए एक अन्त : –ष्टि पूर्व सर्वेक्षण हेतु राय चौधरी, तपन और हबीब इरफान, पूर्वोक्त, पृ0–261–307
13. कैसर ए०जे०, बिल्डिंग कान्स्ट्रक्शन इन मुगल इण्डिया : द एविडेंस फ्रॉ पेंटिंग देहली, 1988
14. वर्मा, हरिश्चन्द्र–मध्यकालीन भारत–2 1540–1761 (2000) हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ0–341
15. टेकचन्द्र 'बहार', बहारे–आलम (1739–40) लिथो, नवल किशोर, 1916, प्रविष्टि, खाक–बेज
16. शर्मा, एल०पी०–मध्यकालीन भारत (1000–1761 ई०), पृ0–297
17. शर्मा, एल०पी०–मध्यकालीन भारत (1000–1740 ईस्वी), 2022, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ0–297
18. आइन–ए–अकबरी, नवल किशोर, लखनऊ, पृ0–37–38
19. उपरोक्त, पृ0–39
20. आइन, एक, पृ0–18–32
21. उपरोक्त,
22. इरफान हबीब का लेख 'अकबर एण्ड टेक्नोलॉजी' देखें

◀◀ ▶▶

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अन्वेषण–संबंधी गतिविधियाँ : एक विश्लेषण

डॉ. रीता कुमारी सिन्हा*

सार : –

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अन्वेषण से जुड़ी गतिविधियाँ वैश्विक इतिहास के एक महत्वपूर्ण मोड़ को दर्शाती हैं, जहाँ वैज्ञानिक जिज्ञासा, साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ और आर्थिक हित आपस में गहराई से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। इस समय यूरोपीय शक्तियों विशेषतः ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम ने अन्वेषण को एक संगठित औपनिवेशिक नीति के रूप में अपनाया। यह काल "नवीन साम्राज्यवाद" का युग था, जिसमें अन्वेषण का उद्देश्य केवल भौगोलिक खोज तक सीमित न रहकर राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करना भी बन गया। अफ्रीका के भीतरी भागों, मध्य एशिया, ध्रुवीय क्षेत्रों तथा दक्षिण–पूर्व एशिया में किए गए अभियानों ने विश्व के मानचित्र को पुनः परिभाषित किया। 1884–85 का बर्लिन सम्मेलन इस प्रक्रिया का एक प्रमुख उदाहरण है, जिसने अफ्रीका के औपनिवेशिक विभाजन को औपचारिक स्वरूप प्रदान किया।

अन्वेषण कार्यों में डेविड लिविंगस्टोन और हेनरी मॉर्टन स्टेनली जैसे अन्वेषकों का योगदान अत्यंत उल्लेखनीय रहा। उनके अभियानों ने न केवल भौगोलिक ज्ञान को विस्तृत किया, बल्कि औपनिवेशिक शक्तियों के लिए नए क्षेत्रों के द्वार भी खोले। इसी संदर्भ में "ग्रेट गेम" के अंतर्गत ब्रिटेन और रूस के बीच मध्य एशिया में प्रभुत्व की प्रतिस्पर्धा ने अन्वेषण को एक रणनीतिक दिशा प्रदान की। इसके साथ ही वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति जैसे भाप से चलने वाले जहाज, उन्नत मानचित्रण तकनीक, टेलीग्राफ व्यवस्था तथा चिकित्सा क्षेत्र में सुधार ने इन अभियानों को अधिक सशक्त और सुरक्षित बनाया। परिणामस्वरूप वैश्विक व्यापार, संचार और सांस्कृतिक संपर्कों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

मुख्य शब्द : अन्वेषण, साम्राज्यवाद, नव–साम्राज्यवाद, औपनिवेशिक विस्तार, औद्योगिक क्रांति, भौगोलिक खोज, मध्य एशिया इत्यादि ।

प्रस्तावना :

19वीं सदी का उत्तरार्द्ध वैश्विक इतिहास में परिवर्तन और संक्रमण का काल था, जिसमें अन्वेषण गतिविधियाँ आधुनिक विश्व व्यवस्था के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभा रही थीं। औद्योगिक क्रांति के पश्चात यूरोपीय देशों में उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई, जिसके कारण कच्चे माल, नए बाजारों और निवेश के अवसरों की आवश्यकता उत्पन्न हुई। इस आवश्यकता ने अन्वेषण को एक नई दिशा और उद्देश्य प्रदान किया।

इस काल में अन्वेषण केवल साहसिक यात्राओं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह एक संगठित, संस्थागत और राज्य–प्रायोजित प्रक्रिया बन गया। विभिन्न वैज्ञानिक संस्थाओं, भौगोलिक समितियों और औपनिवेशिक प्रशासन ने मिलकर अन्वेषण अभियानों को प्रोत्साहित किया। उदाहरणस्वरूप, रॉयल जियोग्राफिकल सोसाइटी ने अनेक अभियानों को वित्तीय और बौद्धिक समर्थन प्रदान किया।

अफ्रीका, जिसे उस समय 'डार्क कॉन्टिनेंट' कहा जाता था, अन्वेषण का प्रमुख केंद्र बना[1] यहाँ की नदियों, झीलों और आंतरिक क्षेत्रों की खोज ने न केवल भूगोल को समृद्ध किया, बल्कि यूरोपीय शक्तियों के लिए उपनिवेश स्थापित करने का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसी प्रकार, एशिया में मध्य एशिया और तिब्बत के क्षेत्रों में अन्वेषण गतिविधियाँ ग्रेट गेम के संदर्भ में अत्यधिक महत्वपूर्ण थीं।

ध्रुवीय क्षेत्रों का अन्वेषण भी इस काल की एक विशिष्ट विशेषता था, जिसने मानव साहस और वैज्ञानिक जिज्ञासा की सीमाओं को विस्तारित किया। इन अभियानों ने जलवायु, समुद्री धाराओं और पृथ्वी के भौतिक स्वरूप के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्वेषण गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी था कि वे ज्ञान और शक्ति के बीच संबंध को दर्शाती थीं। जिस प्रकार नए क्षेत्रों की खोज से ज्ञान का विस्तार हुआ, उसी प्रकार उस ज्ञान का उपयोग

---

* सहायक प्राध्यापिका (अतिथि), इतिहास विभाग, त्रिवेणी सत्यभामा कॉलेज, हिसुआ, नवादा
E-mail : reetakumarisinha010769@gmail.com, Mob. : 9631963417

राजनीतिक नियंत्रण और आर्थिक शोषण के लिए भी किया गया।[2] इस प्रकार, अन्वेषण को केवल वैज्ञानिक उपलब्धि के रूप में नहीं, बल्कि सत्ता और वर्चस्व के उपकरण के रूप में भी समझना आवश्यक है।

अन्वेषण के प्रमुख उद्देश्य

- भौगोलिक ज्ञान का विस्तार : नई नदियों, पर्वतों, और क्षेत्रों की खोज करना तथा उनके मानचित्र तैयार करना प्रमुख उद्देश्य था।
- आर्थिक हित : कच्चे माल, खनिज संसाधनों और नए व्यापारिक मार्गों की खोज ने अन्वेषण को प्रेरित किया।
- राजनीतिक एवं सामरिक विस्तार : उपनिवेशों की स्थापना और साम्राज्य विस्तार के लिए नए क्षेत्रों का अधिग्रहण किया गया।
- धार्मिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्य : मिशनरियों के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार–प्रसार भी अन्वेषण का एक उद्देश्य था।

प्रमुख अन्वेषण एवं अन्वेषक

- डेविड लिविंगस्टोन : इन्होंने अफ्रीका के आंतरिक भागों की खोज की और जाम्बेजी नदी तथा विक्टोरिया फॉल्स को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया।
- हेनरी मॉर्टन स्ऐनली : इन्होंने कांगो बेसिन का विस्तृत अन्वेषण किया और बेल्जियम के राजा के लिए उपनिवेश विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया।
- रोआल्ड अमुंडसेन और रॉबर्ट पियरी : इन्होंने ध्रूवीय क्षेत्रों (आर्कटिक और अंटार्कटिक) के अन्वेषण में महत्वपूर्ण योगदान दिया।
- निकोलाई प्रेजेवाल्स्की : इन्होंने मध्य एशिया के दूरस्थ क्षेत्रों का अन्वेषण किया।

अफ्रीका में अन्वेषण: 'डार्क कॉन्टिनेंट' की खोज

- 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अफ्रीका यूरोपीय शक्तियों के लिए 'अज्ञात महाद्वीप' था। इस काल में अन्वेषण के परिणामस्वरूप अफ्रीका का आंतरिक भूगोल स्पष्ट हुआ।
- बर्लिन सम्मेलन (1884–85) के माध्यम से यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका का विभाजन किया, जो अन्वेषण गतिविधियों का प्रत्यक्ष परिणाम था।

एशिया में अन्वेषण

- एशिया में विशेष रूप से मध्य एशिया और तिब्बत में अन्वेषण गतिविधियाँ बढ़ीं।
- ग्रेट गेम के तहत ब्रिटेन और रूस के बीच सामरिक प्रतिस्पर्धा ने अन्वेषण को और तेज किया।

वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति की भूमिका

- सटीक मानचित्रण तकनीक
- टेलीग्राफ और संचार प्रणाली
- भाप इंजन और उन्नत जहाज
- चिकित्सा क्षेत्र में प्रगति (विशेषकर मलेरिया से बचाव)

अन्वेषण के प्रभाव

सकारात्मक प्रभाव :

- विश्व के भूगोल का विस्तार
- वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि
- अंतरराष्ट्रीय व्यापार का विकास

नकारात्मक प्रभाव :

- उपनिवेशवाद और शोषण
- स्थानीय संस्कृतियों का विनाश
- दासता और आर्थिक असमानता का विस्तार

यद्यपि अन्वेषण गतिविधियों ने मानव ज्ञान को समृद्ध किया, परंतु यह पूरी तरह निष्पक्ष और मानवीय नहीं थीं। अधिकांश अन्वेषण औपनिवेशिक हितों से प्रेरित थे। इस कारण इन गतिविधियों को केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि साम्राज्यवाद के उपकरण के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

अतः 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की अन्वेषण गतिविधियाँ आधुनिक वैश्वीकरण की पूर्वपीठिका के रूप में देखी जा सकती हैं, जिसने विश्व को आपस में जोड़ने के साथ–साथ असमानताओं और संघर्षों की भी नींव रखी।

साहित्य समीक्षा :

सथनाम संगेरा (2024) संगेरा की पुस्तक Empireworld में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दीर्घकालिक वैश्विक प्रभावों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। वे बताते हैं कि अन्वेषण गतिविधियाँ केवल खोज नहीं थीं, बल्कि वे आर्थिक शोषण, नस्लीय पदानुक्रम और सांस्कृतिक प्रभुत्व को स्थापित करने का साधन थीं। उनका अध्ययन विशेष रूप से इस बात पर प्रकाश डालता है कि किस प्रकार 19वीं सदी के अन्वेषणों ने आधुनिक वैश्विक असमानताओं की नींव रखी। वे 'स्मृति और इतिहास' के अंतर्संबंध को भी उजागर करते हैं, यह दर्शाते हुए कि कैसे साम्राज्यवादी इतिहास को लंबे समय तक गौरवपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया गया।[3]

जॉर्ज स्टाइनमेट्ज (2023) इन्होंने आधुनिक सामाजिक विज्ञानों की उत्पत्ति को औपनिवेशिक संदर्भ में रखकर विश्लेषित करती है। वे तर्क देते हैं कि 19वीं सदी के अन्वेषण अभियानों ने न केवल नए भूगोल की खोज की, बल्कि 'ज्ञान के उत्पादन' की प्रक्रिया को भी प्रभावित किया। उनके अनुसार, अन्वेषण के दौरान संकलित आंकड़े जैसे जनजातीय संरचना, भाषाएँ, संसाधन को बाद में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के सिद्धांतों के निर्माण में उपयोग किया गया। इस प्रकार अन्वेषण गतिविधियाँ ज्ञान और सत्ता के बीच एक गहरे संबंध को उजागर करती हैं।[4]

प्रियांका सत्या (2020) यह दर्शाती है कि इतिहास लेखन और अन्वेषण गतिविधियाँ किस प्रकार 'नैतिक वैधता' प्रदान करने के उपकरण बने। वे यह तर्क देती हैं कि अन्वेषण को 'सभ्यता लाने' के विचार से जोड़ा गया, जिससे साम्राज्यवाद को नैतिक रूप से उचित ठहराया गया। उनके अनुसार, इतिहासकारों और अन्वेषकों ने मिलकर एक ऐसा विमर्श तैयार किया, जिसने उपनिवेशवाद को प्रगति और विकास के रूप में प्रस्तुत किया।[5]

मेगन ब्लैक (2018) ब्लैक की पुस्तक The Global Interior संसाधन–आधारित अन्वेषण (Resource & driven exploration) की अवधारणा को स्पष्ट करती है। वे दर्शाती हैं कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में खनिज संसाधनों जैसे कोयला, सोना, और धातुएँ की खोज ने अन्वेषण अभियानों को प्रेरित किया।[6]

उनके अनुसार, यह प्रक्रिया केवल आर्थिक नहीं थी, बल्कि यह राजनीतिक नियंत्रण और सामरिक प्रभुत्व से भी जुड़ी हुई थी। वे 'पर्यावरणीय इतिहास' (Environmental History) के दृष्टिकोण से अन्वेषण का विश्लेषण करती हैं।

जुर्गेन ऑस्टरहामेल (2014) ऑस्टरहामेल ने 19वीं सदी को 'वैश्विक परिवर्तन का युग' बताया है। वे अन्वेषण गतिविधियों को वैश्वीकरण की प्रारंभिक अवस्था से जोड़ते हैं। उनके अनुसार, इस काल में संचार, परिवहन और व्यापार के विस्तार ने विश्व को एक–दूसरे से जोड़ा। अन्वेषण ने न केवल भूगोल का विस्तार किया, बल्कि 'वैश्विक नेटवर्क' (Global Networks) का निर्माण भी किया।[7]

फेलिक्स ड्राइवर (2013) ड्राइवर ने अन्वेषण को 'सांस्कृतिक और वैचारिक प्रक्रिया' के रूप में परिभाषित किया है। वे बताते हैं कि अन्वेषण अभियानों ने यूरोप में 'अन्य' (The Other) की अवधारणा को निर्मित किया। उनका विश्लेषण यह दर्शाता है कि अन्वेषण केवल भौतिक खोज नहीं था, बल्कि यह एक 'प्रतिनिधित्व की राजनीति' (Politics of Representation) भी था, जिसमें उपनिवेशित समाजों को एक विशेष दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया।[8]

जॉन डार्विन (2009) डार्विन की The Empire Project साम्राज्यवाद और अन्वेषण के बीच अंतर्संबंध को गहराई से स्पष्ट करती है। वे बताते हैं कि अन्वेषण 'साम्राज्य निर्माण का प्रारंभिक चरण' था, जिसके माध्यम से राजनीतिक नियंत्रण स्थापित किया गया। वे यह भी दर्शाते हैं कि अन्वेषण ने वैश्विक शक्ति संतुलन को प्रभावित किया और यूरोपीय प्रभुत्व को मजबूत किया।[9]

नियाल फर्ग्यूसन (2004) फर्ग्यूसन ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों दृ ष्टिकोणों से देखा है। वे बताते हैं कि अन्वेषण, व्यापार और सैन्य शक्ति के समन्वय ने आधुनिक विश्व व्यवस्था

के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालाँकि, उनके विचारों की आलोचना भी हुई है, क्योंकि वे साम्राज्यवाद के कुछ सकारात्मक पहलुओं को अधिक महत्व देते हैं।[10]

अल्फ्रेड डब्ल्यू. क्रॉस्बी (2004) क्रॉस्बी की Ecological Imperialism अन्वेषण के पर्यावरणीय प्रभावों का विश्लेषण करती है। वे बताते हैं कि यूरोपीय विस्तार के साथ–साथ पौधों, जानवरों और बीमारियों का प्रसार हुआ, जिसने स्थानीय पारिस्थितिकी को गहराई से प्रभावित किया। यह अध्ययन अन्वेषण को 'पर्यावरणीय परिवर्तन' के संदर्भ में समझने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है।[11]

उद्देश्य :

1. 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अन्वेषण–संबंधी गतिविधियों की प्रकृति एवं स्वरूप का ऐतिहासिक विश्लेषण करना।
2. अन्वेषण और साम्राज्यवाद के अंतर्संबंधों को स्पष्ट करना, विशेष रूप से बर्लिन सम्मेलन (1884–85) के संदर्भ में।
3. अन्वेषण के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों की पहचान करना।
4. यूरोपीय शक्तियों जैसे ब्रिटेन, फ्रांस की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन करना।
5. अन्वेषण गतिविधियों के सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों का मूल्यांकन करना।

परिकल्पना

1. 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की अन्वेषण गतिविधियाँ मुख्यतः वैज्ञानिक जिज्ञासा से प्रेरित न होकर साम्राज्यवादी और आर्थिक हितों से संचालित थीं।
2. अन्वेषण ने औपनिवेशिक विस्तार के लिए आधारभूमि तैयार की और वैश्विक शक्ति–संतुलन को यूरोपीय देशों के पक्ष में परिवर्तित किया।
3. अन्वेषण गतिविधियों ने ज्ञान–निर्माण (Knowledge Production) की प्रक्रिया को प्रभावित करते हुए पश्चिमी वर्चस्व को वैधता प्रदान की।
4. इन गतिविधियों के परिणामस्वरूप उपनिवेशित क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक असमानताओं में वृद्धि हुई।

निष्कर्ष : 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की अन्वेषण–संबंधी गतिविधियाँ आधुनिक विश्व के निर्माण में अत्यंत निर्णायक सिद्ध हुईं। इन अभियानों ने न केवल भौगोलिक ज्ञान का विस्तार किया, बल्कि वैश्विक राजनीतिक और आर्थिक संरचनाओं को भी पुनर्गठित किया। अफ्रीका, एशिया और ध्रुवीय क्षेत्रों में किए गए अन्वेषणों ने नए संसाधनों और व्यापारिक मार्गों की खोज को संभव बनाया, जिससे यूरोपीय शक्तियों को अपार आर्थिक लाभ हुआ। ग्रेट गेम जैसी प्रतिस्पर्धाएँ यह दर्शाती हैं कि अन्वेषण केवल वैज्ञानिक गतिविधि नहीं था, बल्कि यह सामरिक और राजनीतिक संघर्ष का भी हिस्सा था।

हालाँकि, इन गतिविधियों के सकारात्मक पहलुओं जैसे वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि और वैश्विक संपर्क के साथ–साथ इनके नकारात्मक परिणाम भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। औपनिवेशिक शोषण, सांस्कृतिक वर्चस्व और संसाधनों के असमान वितरण ने उपनिवेशित समाजों को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। आधुनिक इतिहासकार जैसे प्रियांका सत्या और जॉर्ज स्टाइनमेट्ज ने यह स्पष्ट किया है कि अन्वेषण को केवल 'खोज' के रूप में नहीं देखा जा सकता, बल्कि यह ज्ञान, सत्ता और विचारधारा के जटिल अंतर्संबंधों का परिणाम था।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अन्वेषण गतिविधियाँ आधुनिक वैश्वीकरण की आधारशिला थीं, परंतु इनके साथ जुड़े असमानता और शोषण के पहलुओं को समझना भी उतना ही आवश्यक है।

संदर्भ सूची

1. कैथरीन हॉल (2022) साम्राज्य और स्मृति : ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पुनर्मूल्यांकन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 97
2. दीपेश चक्रवर्ती (2000) प्रांतीयकरण यूरोप : उपनिवेशोत्तर विचार और ऐतिहासिक अंतर, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 82
3. सथनाम संगेरा (2024) एम्पायरवर्ल्ड : ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने विश्व को कैसे आकार दिया, पेंगुइन प्रकाशन, पृ0 29

4. जॉर्ज स्टाइनमेट्ज (2023) आधुनिक सामाजिक चिंतन की औपनिवेशिक उत्पत्ति, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 112
5. प्रियांका सत्या, (2020), टाइम्स मॉन्स्टर : इतिहास कैसे इतिहास बनाता है, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 33
6. मेगन ब्लैक, (2018), द ग्लोबल इंटीरियर : खनिज सीमाएँ और अमेरिकी शक्ति, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 41
7. जुर्गेन ऑस्अरहामेल, (2014) विश्व का रूपांतरणः उन्नीसवीं सदी का वैश्विक इतिहास, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 55
8. फेलिक्स ड्राइवर (2013) जियोग्राफी मिलिटेंट : अन्वेषण और साम्राज्य की संस्कृतियाँ, वाइली–ब्लैकवेल, पृ0 107
9. जॉन डार्विन (2009) द एम्पायर प्रोजेक्ट : ब्रिटिश विश्व–प्रणाली का उदय और पतन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 69
10. नियाल फर्ग्यूसन (2004) एम्पायर : ब्रिटेन ने आधुनिक विश्व का निर्माण कैसे किया, पेंगुइन, पृ0 16
11. अल्फ्रेड डब्ल्यू क्रॉस्बी (2004) पारिस्थितिक साम्राज्यवाद : यूरोप का जैविक विस्तार, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0 74

शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया पर कृत्रिम बुद्धिमत्ता का प्रभाव

डॉ. निशा पाण्डेय*

वर्तमान समय को विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास का युग माना जाता है, जहाँ नई–नई तकनीकों ने मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को गहराई से प्रभावित किया है। इन्हीं तकनीकों में कृत्रिम बुद्धिमत्ता एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं परिवर्तनकारी अवधारणा के रूप में उभरकर सामने आई है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता का आशय ऐसी मशीनों एवं संगणक प्रणालियों के विकास से है, जो मानव की भाँति सोचने, तर्क करने, सीखने तथा निर्णय लेने की क्षमता रखती हैं। यह केवल एक तकनीकी नवाचार नहीं, बल्कि मानव समाज की संरचना एवं कार्यप्रणाली में व्यापक परिवर्तन लाने वाली शक्ति बन चुकी है।

शिक्षा का क्षेत्र, जो किसी भी राष्ट्र के विकास का आधार होता है, भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रहा है। पारंपरिक शिक्षा प्रणाली, जो मुख्यतः शिक्षक–केंद्रित थी, अब धीरे–धीरे विद्यार्थी–केंद्रित एवं प्रौद्योगिकी–आधारित होती जा रही है। इस परिवर्तन में कृत्रिम बुद्धिमत्ता की महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि यह शिक्षण एवं अधिगम की प्रक्रिया को अधिक प्रभावी, लचीला तथा व्यक्तिगत बनाने में सहायक सिद्ध हो रही है। आज के समय में शिक्षा केवल ज्ञान के संप्रेषण तक सीमित नहीं रह गई है, बल्कि यह कौशल विकास, समस्या–समाधान क्षमता एवं रचनात्मकता के विकास पर भी बल देती है, जिसमें कृत्रिम बुद्धिमत्ता एक सशक्त उपकरण के रूप में कार्य कर रही है।

शिक्षण विधियों में परिवर्तन

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के विकास ने शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण विधियों को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। पारंपरिक शिक्षण पद्धति मुख्यतः शिक्षक–केंद्रित होती थी, जिसमें शिक्षक ज्ञान का मुख्य स्रोत होता था तथा विद्यार्थी केवल उसे ग्रहण करने का कार्य करते थे। इस पद्धति में विद्यार्थियों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं, रुचियों एवं क्षमताओं पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जाता था। परिणामस्वरूप, सभी विद्यार्थियों को समान स्तर पर समझ विकसित करने में कठिनाई होती थी।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के आगमन के साथ शिक्षण विधियाँ अधिक विद्यार्थी–केंद्रित एवं अनुकूलनशील हो गई हैं। अब शिक्षण प्रक्रिया में विद्यार्थियों की सक्रिय भागीदारी को प्रोत्साहित किया जाता है तथा उन्हें उनकी क्षमता एवं गति के अनुसार सीखने का अवसर प्रदान किया जाता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ विद्यार्थियों के अध्ययन व्यवहार का विश्लेषण करके यह निर्धारित करती हैं कि उन्हें किस प्रकार की शिक्षण पद्धति अधिक उपयुक्त होगी। इस प्रकार, शिक्षण अधिक व्यक्तिगत एवं प्रभावी बन जाता है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के प्रभाव से शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों की भूमिकाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। अब शिक्षक केवल ज्ञान के प्रदाता नहीं रह गए हैं, बल्कि वे एक मार्गदर्शक, संयोजक एवं प्रेरक की भूमिका निभा रहे हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ विद्यार्थियों के अधिगम से संबंधित विस्तृत जानकारी प्रदान करती हैं, जिसके आधार पर शिक्षक उनकी आवश्यकताओं को समझकर उपयुक्त शिक्षण रणनीतियाँ विकसित कर सकते हैं। इस प्रकार, शिक्षण अधिक योजनाबद्ध एवं साक्ष्य–आधारित हो गया है।

इसके साथ ही, विद्यार्थियों की भूमिका भी अधिक सक्रिय एवं सहभागी बन गई है। अब वे केवल सुनने या याद करने तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे स्वयं खोज, विश्लेषण एवं प्रयोग के माध्यम से ज्ञान अर्जित करते हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता उन्हें विभिन्न प्रकार के संसाधन, अभ्यास एवं त्वरित प्रतिक्रिया प्रदान करती है, जिससे वे अपनी सीखने की प्रक्रिया को स्वयं नियंत्रित कर सकते हैं। इस प्रकार, अधिगम अधिक स्व–निर्देशित एवं अनुभवात्मक बन गया है।

इसके अतिरिक्त, शिक्षण में मिश्रित पद्धति का भी विकास हुआ है, जिसमें पारंपरिक एवं डिजिटल दोनों प्रकार की विधियों का समन्वय किया जाता है। उदाहरण के रूप में, कक्षा में शिक्षक द्वारा विषय की व्याख्या के साथ–साथ ऑनलाइन सामग्री, वीडियो, सिमुलेशन एवं अभ्यास का उपयोग किया जाता है। इससे

* बी.एड्. विभाग, राम गुलाम राय शिक्षण प्रशिक्षण महाविद्यालय गोरखपुर।
Email id- drnishapandey91@gmail.com

विद्यार्थियों को विषय को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने का अवसर मिलता है। इस प्रकार, शिक्षण अधिक लचीला एवं बहुआयामी बन जाता है।

हालाँकि, इन परिवर्तनों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है कि शिक्षक तकनीकी रूप से सक्षम हों तथा उन्हें कृत्रिम बुद्धिमत्ता के उपयोग का उचित प्रशिक्षण प्राप्त हो। इसके बिना इन नवीन शिक्षण विधियों का पूर्ण लाभ प्राप्त करना कठिन हो सकता है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के कारण शिक्षण विधियों में आया यह परिवर्तन शिक्षा की गुणवत्ता एवं प्रभावशीलता को नए स्तर तक ले गया है। अब शिक्षण केवल पाठ्यक्रम को पूरा करने का माध्यम नहीं रह गया है, बल्कि यह विद्यार्थियों के समग्र विकासकृजैसे तर्कशक्ति, सृजनात्मकता एवं समस्या–समाधान क्षमताकृको विकसित करने का एक सशक्त साधन बन गया है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित विधियाँ विद्यार्थियों को सक्रिय रूप से सोचने, प्रश्न करने एवं नवीन समाधान खोजने के लिए प्रेरित करती हैं, जिससे उनका बौद्धिक विकास होता है।

हालाँकि, इस परिवर्तन के साथ कुछ चुनौतियाँ भी सामने आती हैं। अत्यधिक तकनीकी निर्भरता से पारंपरिक शिक्षण मूल्यों एवं मानवीय संपर्क में कमी आ सकती है। इसके अतिरिक्त, सभी क्षेत्रों में समान तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता न होने के कारण इन विधियों का लाभ सभी तक समान रूप से नहीं पहुँच पाता। इसलिए आवश्यक है कि इन नवीन शिक्षण विधियों का उपयोग संतुलित एवं विवेकपूर्ण तरीके से किया जाए।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने शिक्षण विधियों को अधिक आधुनिक, प्रभावी एवं विद्यार्थी–केंद्रित बना दिया है। यदि इसके उपयोग में संतुलन बनाए रखा जाए, तो यह शिक्षा प्रणाली को और अधिक सुदृढ़ एवं उन्नत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

अधिगम की गुणवत्ता में सुधार

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के उपयोग ने अधिगम की गुणवत्ता में उल्लेखनीय सुधार किया है। पारंपरिक शिक्षा प्रणाली में अधिगम मुख्यतः स्मरण एवं पुनरावृत्ति पर आधारित होता था, जिसके कारण विद्यार्थी विषय की गहराई को समझने में कई बार असमर्थ रहते थे। इसके विपरीत, कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित अधिगम प्रणाली विद्यार्थियों को विषय की अवधारणाओं को स्पष्ट एवं गहन रूप से समझने में सहायता करती है। यह प्रणाली विद्यार्थियों की समझ के स्तर का विश्लेषण करके उन्हें उपयुक्त सामग्री एवं अभ्यास प्रदान करती है, जिससे उनकी सीखने की प्रक्रिया अधिक प्रभावी बनती है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के माध्यम से अधिगम अधिक अनुकूलनशील एवं व्यक्तिगत हो गया है। प्रत्येक विद्यार्थी की सीखने की गति एवं शैली भिन्न होती है, और यह प्रणाली उसी के अनुसार शिक्षण सामग्री को अनुकूलित करती है। इससे विद्यार्थी अपनी गति से सीख सकते हैं तथा कठिन विषयों को समझने के लिए अधिक समय दे सकते हैं। इस प्रकार, अधिगम की गुणवत्ता में सुधार होता है और विद्यार्थियों की समझ अधिक सुदृढ़ बनती है।

इसके अतिरिक्त, कृत्रिम बुद्धिमत्ता विद्यार्थियों को त्वरित प्रतिक्रिया प्रदान करती है, जो अधिगम की गुणवत्ता में सुधार का एक महत्वपूर्ण कारक है। जब विद्यार्थी किसी प्रश्न का उत्तर देते हैं, तो उन्हें तुरंत यह ज्ञात हो जाता है कि उनका उत्तर सही है या नहीं, तथा यदि उसमें त्रुटि है तो उसे कैसे सुधारा जा सकता है। इससे वे अपनी गलतियों को तुरंत सुधार सकते हैं और भविष्य में उन्हें दोहराने से बच सकते हैं।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के प्रभाव से अधिगम केवल ज्ञान प्राप्ति तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि यह विभिन्न बौद्धिक एवं व्यावहारिक कौशलों के विकास का माध्यम बन गया है। अब विद्यार्थी केवल तथ्यों को याद करने के बजाय उनका विश्लेषण करने, उनके बीच संबंध स्थापित करने तथा समस्याओं का समाधान करने में सक्षम हो रहे हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ विद्यार्थियों को ऐसे कार्य एवं अभ्यास प्रदान करती हैं, जो उनकी तर्कशक्ति, निर्णय क्षमता एवं सृजनात्मकता को विकसित करते हैं। इस प्रकार, अधिगम अधिक अर्थपूर्ण एवं उपयोगी बनता है।

इसके साथ ही, कृत्रिम बुद्धिमत्ता अधिगम को अधिक अनुभवात्मक एवं व्यावहारिक बनाती है। विभिन्न प्रकार के सिमुलेशन, आभासी प्रयोगशालाएँ एवं अंतःक्रियात्मक गतिविधियाँ विद्यार्थियों को वास्तविक परिस्थितियों के समान अनुभव प्रदान करती हैं। उदाहरण के रूप में, विज्ञान के जटिल प्रयोगों को आभासी माध्यम से सुरक्षित एवं सरल तरीके से समझाया जा सकता है। इससे विद्यार्थियों को विषय की गहरी समझ प्राप्त होती है तथा वे उसे वास्तविक जीवन से जोड़कर देख सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, कृत्रिम बुद्धिमत्ता अधिगम में निरंतरता बनाए रखने में भी सहायक होती है। यह विद्यार्थियों की प्रगति का लगातार विश्लेषण करती है तथा उन्हें नियमित रूप से अभ्यास एवं मार्गदर्शन प्रदान करती है। इससे अधिगम एक सतत प्रक्रिया बन जाता है, जिसमें विद्यार्थी धीरे–धीरे अपने ज्ञान एवं कौशल को विकसित करते रहते हैं। इस प्रकार, यह प्रणाली विद्यार्थियों को दीर्घकालिक अधिगम की दिशा में प्रेरित करती है। हालाँकि, इन सभी लाभों के बावजूद यह आवश्यक है कि अधिगम में संतुलन बनाए रखा जाए। केवल तकनीकी साधनों पर निर्भरता से कभी–कभी गहन चिंतन एवं स्वाध्याय की प्रवृत्ति प्रभावित हो सकती है। अतः कृत्रिम बुद्धिमत्ता का उपयोग इस प्रकार किया जाना चाहिए कि यह पारंपरिक अधिगम विधियों के साथ समन्वय स्थापित कर सके।

इसके साथ ही, यह सुधार विद्यार्थियों के आत्मविश्वास एवं प्रेरणा स्तर को भी बढ़ाता है। जब विद्यार्थी अपनी प्रगति को स्पष्ट रूप से देख पाते हैं तथा उन्हें उनकी उपलब्धियों के लिए सकारात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त होती है, तो वे अधिक उत्साह एवं लगन के साथ अध्ययन करते हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ विद्यार्थियों को उनके लक्ष्य निर्धारित करने एवं उन्हें प्राप्त करने की दिशा में मार्गदर्शन प्रदान करती हैं, जिससे वे अधिक संगठित एवं लक्ष्य–उन्मुख बनते हैं। हालाँकि, इस सुधार को स्थायी एवं प्रभावी बनाए रखने के लिए कुछ आवश्यक कदम उठाना आवश्यक है। तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता, शिक्षकों का प्रशिक्षण एवं उचित नीतियों का निर्माण इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यदि इन पहलुओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया, तो कृत्रिम बुद्धिमत्ता के लाभ सभी विद्यार्थियों तक समान रूप से नहीं पहुँच पाएंगे।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने अधिगम की गुणवत्ता में व्यापक एवं सकारात्मक परिवर्तन किया है। यह शिक्षा को अधिक प्रभावी, व्यावहारिक एवं विद्यार्थी–केंद्रित बनाकर उसे आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल रही है। यदि इसका संतुलित एवं विवेकपूर्ण उपयोग किया जाए, तो यह शिक्षा के क्षेत्र में दीर्घकालिक सुधार एवं विकास का आधार बन सकती है।

शिक्षक एवं विद्यार्थी की भूमिका में परिवर्तन

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के विकास ने शिक्षा प्रणाली में शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों की पारंपरिक भूमिकाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक को ज्ञान का मुख्य स्रोत माना जाता था, जबकि विद्यार्थी केवल ज्ञान ग्रहण करने वाले के रूप में कार्य करते थे। इस व्यवस्था में शिक्षण प्रक्रिया अधिकतर एकतरफा होती थी, जिसमें विद्यार्थियों की सक्रिय भागीदारी सीमित रहती थी।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के आगमन के साथ यह स्थिति परिवर्तित हो गई है। अब शिक्षक की भूमिका केवल ज्ञान प्रदान करने तक सीमित नहीं रह गई है, बल्कि वे एक मार्गदर्शक, सहायक एवं प्रेरक के रूप में कार्य कर रहे हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ शिक्षकों को विद्यार्थियों की प्रगति, उनकी समझ एवं उनकी कमजोरियों से संबंधित विस्तृत जानकारी प्रदान करती हैं, जिससे वे अधिक प्रभावी एवं योजनाबद्ध शिक्षण कर सकते हैं। इस प्रकार, शिक्षक की भूमिका अधिक गतिशील एवं विश्लेषणात्मक हो गई है।

दूसरी ओर, विद्यार्थियों की भूमिका भी अधिक सक्रिय एवं स्व–निर्देशित हो गई है। अब विद्यार्थी केवल जानकारी प्राप्त करने तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे स्वयं खोज, विश्लेषण एवं प्रयोग के माध्यम से ज्ञान अर्जित करते हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता उन्हें विभिन्न संसाधन एवं त्वरित प्रतिक्रिया प्रदान करती है, जिससे वे अपनी अधिगम प्रक्रिया को स्वयं नियंत्रित कर सकते हैं। इस प्रकार, विद्यार्थी शिक्षण प्रक्रिया के केंद्र में आ गए हैं।

इस प्रकार, कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने शिक्षा प्रणाली को अधिक सहभागी एवं संतुलित बनाते हुए शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों की भूमिकाओं को पुनः परिभाषित किया है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के प्रभाव से शिक्षक एवं विद्यार्थी के बीच अंतःक्रिया का स्वरूप भी अधिक विकसित एवं प्रभावी हो गया है। अब शिक्षण प्रक्रिया एकतरफा न होकर द्विपक्षीय एवं सहभागी बन गई है, जिसमें शिक्षक और विद्यार्थी दोनों सक्रिय रूप से योगदान देते हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ विद्यार्थियों की अधिगम शैली, उनकी प्रगति एवं उनकी कठिनाइयों का विश्लेषण करके शिक्षकों को आवश्यक जानकारी प्रदान करती हैं, जिससे वे प्रत्येक विद्यार्थी के अनुसार अपने शिक्षण को अनुकूलित कर सकते हैं।

शिक्षक अब केवल पाठ्य सामग्री को प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे विद्यार्थियों को समस्या–समाधान, विश्लेषणात्मक सोच एवं सृजनात्मकता के लिए प्रेरित करते हैं। वे विद्यार्थियों को सही दिशा

में मार्गदर्शन देते हैं तथा उन्हें स्वतंत्र रूप से सीखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार, शिक्षक की भूमिका अधिक सहायक एवं प्रेरणादायक बन गई है, जो विद्यार्थियों के समग्र विकास पर केंद्रित होती है।

विद्यार्थियों की भूमिका में भी व्यापक परिवर्तन देखा जा सकता है। अब वे केवल निष्क्रिय श्रोता नहीं हैं, बल्कि वे शिक्षण प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार हैं। वे प्रश्न पूछते हैं, चर्चा में भाग लेते हैं तथा विभिन्न डिजिटल संसाधनों का उपयोग करके अपने ज्ञान का विस्तार करते हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता उन्हें उनकी गलतियों पर त्वरित प्रतिक्रिया प्रदान करती है, जिससे वे अपनी सीखने की प्रक्रिया को लगातार सुधार सकते हैं। इस प्रकार, विद्यार्थी अधिक आत्मनिर्भर एवं जागरूक शिक्षार्थी बन रहे हैं।

हालाँकि, इस परिवर्तन के साथ कुछ चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई हैं। सभी शिक्षकों एवं विद्यार्थियों का तकनीकी रूप से सक्षम होना आवश्यक है, अन्यथा इस प्रणाली का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, अत्यधिक तकनीकी निर्भरता से मानवीय संपर्क एवं भावनात्मक संबंधों में कमी आ सकती है, जो शिक्षा के महत्वपूर्ण पहलू हैं। अतः यह आवश्यक है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता का उपयोग इस प्रकार किया जाए कि यह मानवीय मूल्यों के साथ संतुलन बनाए रखे।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने शिक्षक एवं विद्यार्थी की पारंपरिक भूमिकाओं को पुनः परिभाषित करते हुए शिक्षा को अधिक सहभागी, लचीला एवं प्रभावी बना दिया है। यदि इस परिवर्तन को संतुलित एवं विवेकपूर्ण ढंग से अपनाया जाए, तो यह शिक्षा प्रणाली के समग्र विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

डिजिटल विभाजन का प्रभाव

डिजिटल विभाजन का आशय उन असमानताओं से है, जो विभिन्न वर्गों, क्षेत्रों एवं व्यक्तियों के बीच तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता एवं उपयोग की क्षमता के आधार पर उत्पन्न होती हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता एवं डिजिटल शिक्षा के बढ़ते उपयोग के साथ यह समस्या और अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। जहाँ एक ओर कुछ विद्यार्थी आधुनिक तकनीकी साधनों—जैसे इंटरनेट, संगणक एवं स्मार्ट उपकरणों का लाभ उठाकर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर अनेक विद्यार्थी इन संसाधनों के अभाव में इस प्रक्रिया से वंचित रह जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, केवल संसाधनों की उपलब्धता ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनका प्रभावी उपयोग करना भी आवश्यक है। अनेक विद्यार्थियों एवं शिक्षकों में डिजिटल साक्षरता का अभाव होता है, जिसके कारण वे उपलब्ध तकनीकी साधनों का सही उपयोग नहीं कर पाते। इस प्रकार, डिजिटल विभाजन केवल भौतिक संसाधनों की कमी तक सीमित नहीं है, बल्कि यह ज्ञान एवं कौशल की कमी से भी संबंधित है।

डिजिटल विभाजन का प्रभाव शिक्षा प्रणाली पर बहुआयामी रूप से देखा जा सकता है। सबसे प्रमुख प्रभाव शैक्षिक असमानता के रूप में सामने आता है, जहाँ तकनीकी संसाधनों से संपन्न विद्यार्थी अधिक उन्नत एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं, जबकि संसाधन—विहीन विद्यार्थी पीछे रह जाते हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित शिक्षा प्रणाली, जो व्यक्तिगत अधिगम एवं उन्नत सामग्री प्रदान करती है, उसका लाभ सभी तक समान रूप से नहीं पहुँच पाता। इससे शिक्षण—अधिगम की गुणवत्ता में अंतर उत्पन्न होता है।

इसके साथ ही, डिजिटल विभाजन विद्यार्थियों के आत्मविश्वास एवं प्रेरणा स्तर को भी प्रभावित करता है। जिन विद्यार्थियों के पास पर्याप्त संसाधन नहीं होते, वे स्वयं को अन्य विद्यार्थियों की तुलना में पीछे महसूस करते हैं, जिससे उनमें हीन भावना उत्पन्न हो सकती है। इसके विपरीत, तकनीकी रूप से सक्षम विद्यार्थी अधिक आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार, यह विभाजन केवल शैक्षिक ही नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी उत्पन्न करता है।

ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के बीच यह अंतर विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देता है। शहरी क्षेत्रों में जहाँ उच्च गति इंटरनेट, डिजिटल उपकरण एवं तकनीकी सहायता आसानी से उपलब्ध होती है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में इनकी कमी के कारण विद्यार्थियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के विद्यार्थियों के लिए महंगे उपकरण एवं इंटरनेट सेवाएँ प्राप्त करना भी चुनौतीपूर्ण होता है। इस प्रकार, डिजिटल विभाजन कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित शिक्षा प्रणाली के लाभों को सीमित कर देता है और शिक्षा में समान अवसर प्रदान करने के उद्देश्य को प्रभावित करता है।

डिजिटल विभाजन की समस्या को कम करने के लिए समन्वित एवं बहुआयामी प्रयासों की आवश्यकता है। सबसे पहले, तकनीकी अधोसंरचना का विकास अत्यंत आवश्यक है, विशेष रूप से ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में इंटरनेट एवं डिजिटल उपकरणों की उपलब्धता सुनिश्चित की जानी चाहिए। इसके लिए

सरकार एवं निजी क्षेत्र को मिलकर कार्य करना होगा, ताकि सभी विद्यार्थियों को समान रूप से तकनीकी संसाधनों तक पहुँच प्राप्त हो सके। इससे कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित शिक्षा के लाभ व्यापक स्तर पर उपलब्ध हो सकेंगे।

इसके साथ ही, डिजिटल साक्षरता को बढ़ावा देना भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। केवल संसाधनों की उपलब्धता पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनका प्रभावी उपयोग करने की क्षमता भी आवश्यक है। शिक्षकों एवं विद्यार्थियों दोनों को तकनीकी उपकरणों के उपयोग का प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, जिससे वे इनका सही एवं सुरक्षित तरीके से उपयोग कर सकें। इस प्रकार, डिजिटल विभाजन के ज्ञान एवं कौशल संबंधी पहलू को भी कम किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, समावेशी नीतियों का निर्माण भी आवश्यक है, जो शिक्षा में समान अवसर सुनिश्चित करें। सरकार द्वारा सस्ती या निःशुल्क इंटरनेट सेवाएँ, डिजिटल उपकरणों का वितरण एवं ऑनलाइन शिक्षा मंचों का विकास जैसे प्रयास इस दिशा में सहायक हो सकते हैं। साथ ही, स्थानीय भाषाओं में डिजिटल सामग्री उपलब्ध कराना भी महत्वपूर्ण है, जिससे अधिक से अधिक विद्यार्थी इसका लाभ उठा सकें।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि डिजिटल विभाजन कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित शिक्षा के समक्ष एक गंभीर चुनौती है, जिसे दूर किए बिना शिक्षा में समानता एवं समावेशन का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि इस समस्या का प्रभावी समाधान किया जाए, तो कृत्रिम बुद्धिमत्ता शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक एवं सकारात्मक परिवर्तन ला सकती है।

नैतिक एवं सामाजिक प्रभाव

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के बढ़ते उपयोग ने शिक्षा के क्षेत्र में अनेक नैतिक एवं सामाजिक प्रश्नों को जन्म दिया है। यद्यपि यह तकनीक शिक्षा को अधिक प्रभावी एवं सुलभ बना रही है, फिर भी इसके उपयोग से जुड़े कुछ ऐसे पहलू हैं, जिन पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक है। नैतिक प्रभाव का संबंध इस बात से है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता का उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है और क्या यह मानवीय मूल्यों, गोपनीयता एवं न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप है।

सबसे प्रमुख नैतिक मुद्दा डेटा की गोपनीयता एवं सुरक्षा से जुड़ा हुआ है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ विद्यार्थियों से संबंधित बड़ी मात्रा में डेटा एकत्रित करती हैं, जिसमें उनकी व्यक्तिगत जानकारी, अध्ययन व्यवहार एवं प्रदर्शन से संबंधित विवरण शामिल होते हैं। यदि इस डेटा का दुरुपयोग होता है या यह असुरक्षित रहता है, तो इससे विद्यार्थियों की निजता पर गंभीर प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि डेटा का उपयोग सुरक्षित एवं जिम्मेदारीपूर्ण तरीके से किया जाए।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता का सामाजिक प्रभाव भी शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक रूप से देखा जा सकता है। इसके उपयोग से समाज में शिक्षा की पहुँच बढ़ी है, जिससे अधिक से अधिक लोग ज्ञान अर्जित करने में सक्षम हो रहे हैं। विशेष रूप से दूरस्थ एवं वंचित क्षेत्रों में रहने वाले विद्यार्थियों के लिए यह एक महत्वपूर्ण अवसर प्रदान करता है, जिससे वे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार, कृत्रिम बुद्धिमत्ता शिक्षा के लोकतंत्रीकरण में सहायक सिद्ध हो रही है।

इसके साथ ही, विद्यार्थियों के व्यवहार एवं सामाजिक कौशलों पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है। अत्यधिक डिजिटल माध्यमों पर निर्भरता के कारण विद्यार्थियों के बीच प्रत्यक्ष संवाद एवं सामाजिक संपर्क में कमी देखी जा रही है। इससे उनके संचार कौशल, सहयोग की भावना एवं सामाजिक सहभागिता प्रभावित हो सकती है। इसके अतिरिक्त, लंबे समय तक डिजिटल उपकरणों के उपयोग से मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है।

इसके साथ ही, शिक्षा में मानवीय मूल्यों को बनाए रखना भी अत्यंत आवश्यक है। यद्यपि कृत्रिम बुद्धिमत्ता शिक्षण प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनाती है, फिर भी यह मानव शिक्षक के स्थान को पूर्णतः प्रतिस्थापित नहीं कर सकती। शिक्षक की भूमिका केवल ज्ञान प्रदान करने तक सीमित नहीं होती, बल्कि वे विद्यार्थियों के नैतिक, सामाजिक एवं भावनात्मक विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इसलिए कृत्रिम बुद्धिमत्ता का उपयोग इस प्रकार किया जाना चाहिए कि यह शिक्षक के सहयोगी के रूप में कार्य करे, न कि उसके विकल्प के रूप में।

इसके अतिरिक्त, समाज में जागरूकता एवं शिक्षा का प्रसार भी आवश्यक है, ताकि लोग कृत्रिम बुद्धिमत्ता के लाभों एवं सीमाओं को समझ सकें। इससे वे इस तकनीक का उपयोग जिम्मेदारीपूर्वक एवं

सुरक्षित तरीके से कर पाएंगे। साथ ही, सरकार एवं संस्थानों को ऐसी नीतियाँ बनानी चाहिए, जो इस तकनीक के नैतिक एवं सुरक्षित उपयोग को सुनिश्चित करें।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण परिवर्तनकारी शक्ति है, जिसके नैतिक एवं सामाजिक प्रभावों को समझना एवं संतुलित करना अत्यंत आवश्यक है। यदि इसका उपयोग विवेकपूर्ण एवं जिम्मेदारीपूर्ण तरीके से किया जाए, तो यह शिक्षा को अधिक प्रभावी, समावेशी एवं मानवोन्मुख बना सकती है।

संदर्भ सूची

पुस्तकें

- शैक्षिक प्रौद्योगिकी – डॉ. एस. के. मंगल
- आधुनिक शिक्षा एवं तकनीकी नवाचार – डॉ. वी. के. महेश्वरी

शोध पत्र एवं लेख

- यूनेस्को – "शिक्षा में कृत्रिम बुद्धिमत्ता" संबंधी रिपोर्ट
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद – शैक्षिक तकनीकी दस्तावेज
- विश्व बैंक – डिजिटल शिक्षा एवं एआई रिपोर्ट

सरकारी दस्तावेज एवं नीतियाँ

- भारत सरकार – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020
- इलेक्ट्रॉनिक्स एवं सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय – कृत्रिम बुद्धिमत्ता से संबंधित पहल
- नीति आयोग – "कृत्रिम बुद्धिमत्ता हेतु राष्ट्रीय रणनीति"

ऑनलाइन स्रोत

- यूनेस्को की आधिकारिक वेबसाइट
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद पोर्टल
- विश्व बैंक की डिजिटल शिक्षा रिपोर्ट

प्राथमिक शिक्षा में आए बदलाव का समाज पर प्रभाव

अंजली कुमारी*

शोधसार -

प्रस्तुत शोध पत्र "प्राथमिक शिक्षा में आए बदलाव का समाज पर प्रभावव" है । प्राथमिक शिक्षा किसी भी समाज की नींव होती है। भारत में स्वतंत्रता के बाद से लेकर वर्तमान तक प्राथमिक शिक्षा में अनेक बदलाव हुए हैं। शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009), सर्वशिक्षा अभियान, डिजिटल शिक्षा, नई शिक्षा नीति 2020 जैसे प्रयासों ने प्राथमिक शिक्षा को अधिक सुलभ, समावेशी और गुणवत्तापूर्ण बनाने का प्रयास किया है। इन परिवर्तनों का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता दर बढ़ी, बालिकाओं की शिक्षा में सुधार हुआ, सामाजिक समानता को बढ़ावा मिला और आर्थिक अवसरों का विस्तार हुआ। साथ ही, चुनौतियाँ भी सामने आईं जैसे संसाधनों की कमी, शिक्षकों का प्रशिक्षण, डिजिटल विभाजन और गुणवत्तापूर्ण सामग्री की उपलब्धता। इस शोध का उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा में आए बदलावों के सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण करना है। यह अध्ययन दर्शाता है कि शिक्षा केवल ज्ञान का साधन नहीं बल्कि सामाजिक संरचना को बदलने का माध्यम भी है। भारत में प्राथमिक शिक्षा सदैव सामाजिक विकास की आधारशिला रही है। स्वतंत्रता के बाद से लेकर वर्तमान तक शिक्षा नीतियों में अनेक बदलाव हुए हैं, जिनका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ा है। प्रारंभिक स्तर पर शिक्षा का सार्वभौमिकरण, सर्वशिक्षा अभियान, मध्याह्न भोजन योजना, और हाल ही में लागू नई शिक्षा नीति (2020) ने बच्चों की शिक्षा तक पहुँच को व्यापक बनाया है। इन बदलावों ने न केवल साक्षरता दर को बढ़ाया बल्कि सामाजिक समानता और लैंगिक न्याय को भी प्रोत्साहित किया।

विशिष्ट शब्द - प्राथमिक शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा नीति, बाल विकास, साक्षरता, समान अवसर, सामाजिक न्याय, नई शिक्षा नीति

साहित्य समीक्षा - हिंदी साहित्य में डॉ. राधाकृष्णन आयोग, कोठारी आयोग, और शिक्षा नीति 1986 पर विस्तृत चर्चा मिलती है।

- अंग्रेज़ी स्रोतों में UNESCO, World Bank और UNICEF की रिपोर्टें प्राथमिक शिक्षा के वैश्विक प्रभावों को रेखांकित करती हैं।
- शोध से स्पष्ट होता है कि शिक्षा सुधारों ने सामाजिक गतिशीलता, लैंगिक समानता और आर्थिक विकास को प्रभावित किया है।

उद्देश्य - प्राथमिक शिक्षा में आए बदलावों के सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण करना।

उपकल्पना - प्राथमिक शिक्षा में सुधार से समाज में साक्षरता, समानता और आर्थिक अवसरों में वृद्धि होती है।

सारांश - प्राथमिक शिक्षा में आए बदलावों ने भारतीय समाज को गहराई से प्रभावित किया है। शिक्षा ने सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाया, लैंगिक समानता को प्रोत्साहित किया, और आर्थिक अवसरों का विस्तार किया। हालांकि चुनौतियाँ अभी भी मौजूद हैं—जैसे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की कमी, शिक्षक प्रशिक्षण की आवश्यकता, और ग्रामीण क्षेत्रों में संसाधनों की कमी। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक शिक्षा में सुधार समाज के समग्र विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

भारत में शिक्षा का इतिहास अत्यंत समृद्ध है। प्राचीन काल में गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी, जहाँ नैतिकता, धर्म और जीवन कौशल पर बल दिया जाता था। मध्यकाल में शिक्षा का स्वरूप

* शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया kumarianjali76996@gmail.com

धार्मिक संस्थानों तक सीमित हो गया। ब्रिटिश शासन के दौरान आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव रखी गई, जिसमें अंग्रेज़ी भाषा और औपचारिक विद्यालयी शिक्षा का प्रसार हुआ। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने शिक्षा को मौलिक अधिकारों से जोड़ा और धीरे-धीरे प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने की दिशा में कदम उठाए गए।

शिक्षा में सुधार के लिए समय समय पर शिक्षा नीतियों में बदलाव किया जाता रहा है

1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति - भारत में पहली बार शिक्षा को राष्ट्रीय विकास का आधार माना गया।

1986 में यह नीति और 1992 संशोधन - इसके अंतर्गत प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने पर बल दिया गया।

समाज के सभी वर्गों के उत्थान के लिए सर्वशिक्षा अभियान (2001) - अबतक की सबसे सफल योजना जिसमे सभी बच्चों को विद्यालय तक पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया और इसमें सफलता भी मिली।

मध्याह्न भोजन योजना - भारत के उन बच्चों के लिए यह लागु की गई जो भूखे विद्यालय नही जा सकते थे, बच्चों को पोषण और विद्यालय में उपस्थिति बढ़ाने के लिए शुरू की गई जो अबतक चल रही है ।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009) - 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया गया।

नई शिक्षा नीति (2020) - समग्र शिक्षा, डिजिटल शिक्षा और कौशल विकास पर बल दिया गया।

शिक्षा नीति में हो रहे बदलाव से समाज पर प्रभाव

साक्षरता दर - इन नीतियों के परिणामस्वरूप भारत में साक्षरता दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में बच्चों की विद्यालय तक पहुँच बढ़ी। बाल श्रम में कमी आई और शिक्षा ने सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा दिया।

लैंगिक समानता - बालिकाओं की शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया। 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' जैसी योजनाओं ने लड़कियों की विद्यालयी उपस्थिति बढ़ाई। इससे समाज में लैंगिक समानता की दिशा में सकारात्मक परिवर्तन हुआ।

ग्रामीण शिक्षा - ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यालयों की संख्या बढ़ी, शिक्षक नियुक्त हुए और डिजिटल शिक्षा का प्रसार हुआ। परन्तु संसाधनों की कमी और प्रशिक्षित शिक्षकों की अनुपलब्धता अभी भी चुनौती बनी हुई है।

आर्थिक अवसर - शिक्षा ने समाज के वंचित वर्गों को आर्थिक अवसर प्रदान किए। साक्षरता और कौशल विकास ने रोजगार की संभावनाएँ बढ़ाईं। शिक्षा ने सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा दिया और गरीबी उन्मूलन में योगदान दिया।

सामाजिक न्याय - प्राथमिक शिक्षा ने समाज में समान अवसरों की भावना को मजबूत किया। अनुसूचित जाति, जनजाति और अल्पसंख्यक समुदायों के बच्चों को शिक्षा तक पहुँच मिली। इससे सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों को बल मिला।

समय समय पर शिक्षा नीति में सुधार कर लागु करने के वावजूद अनेक चुनौतियाँ है जिस पे ध्यान देना आवश्यक है

गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की कमी, डिजिटल विभाजन (ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में असमानता), शिक्षक प्रशिक्षण की आवश्यकता, संसाधनों का असमान वितरण। भविष्य में शिक्षा को और अधिक समावेशी, तकनीकी रूप से सशक्त और कौशल आधारित बनाने की आवश्यकता है। डिजिटल शिक्षा, स्थानीय भाषाओं में सामग्री और शिक्षक प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान देना होगा।

अभी देश की प्राथमिक शिक्षा बड़े परिवर्तन की साक्षी बनने जा रही है। यह नई शिक्षा नीति-2020 के अंतर्गत होने वाला है। नई शिक्षा नीति समाज को बदलाव के लिए प्रेरित करती है कि अब अपने पूरे

शिक्षणतंत्र को व्यावहारिक, लचीला और रचनात्मक बनाएं, जो शिक्षा की ऐसी दुनिया रचने में कामयाब हो, जिससे जुड़कर बच्चे संवेदनशील, कौशलयुक्त, सुयोग्य और विकासमान बनें। वह भविष्य में जाति, धर्म, असमानता जैसी गोलबंदियों से मुक्त एक सशक्त नागरिक संरचना में परिवर्तित हो सकें। हम जिस समाज में रह रहे हैं, वह विभक्तियों के मकड़जाल, जातीय तनाव और भेदभाव से घिरा है। इस समाज के बच्चों को ऐसे शिक्षा की दुनिया में धकेलकर हम रातों रात किसी सार्थक परिवर्तन की आशा नहीं कर सकते। इसके लिए अनेक योजनाओं पर नए दृष्टिकोण से कार्य करने की आवश्यकता महसूस की गयी है। मौजूदा सरकार ने अपने पहले कार्यकाल में ही इस चुनौती को स्वीकार किया और सेवानिवृत्त कैबिनेट सचिव टीआरएस सुब्रमण्यम की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित करके 2015 में ही इस संदर्भ में कार्य आरंभ करा दिया था।

'सुब्रमण्यम समिति' ने अपनी सिफारिशों की रिपोर्ट 2016 में सरकार को सौंप दी थी। सरकार ने इसे व्यापक और जमीनी स्तरों पर परखने के लिए इसरो के पूर्व प्रमुख डॉ के कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता में एक अन्य कमेटी गठित कर उसे सौंप दिया। इस कमेटी ने बृहत्तर संदर्भों में छानबीन करके 31 मई 2019 को अपना प्रतिवेदन सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया था। तत्पश्चात इस रिपोर्ट का प्रकाशन हुआ, आम लोगों और शिक्षाविदों से इसके विषय में सुझाव और संशोधन मांगे गए। व्यापक स्तर पर लोगों ने इसमें अपने सुझाव दिया । किसान, छात्र, शिक्षक, जनप्रतिनिधि, अभिभावक, लोकसेवक, शिक्षाविद,, बुद्धिजीवियों से मिले 20 लाख सुझावों के मंथन के बाद यह शिक्षानीति तैयार की गई। इसमें आम आदमी की बड़ी भूमिका है। इसीलिए नई शिक्षा नीति 2020 को लोकतान्त्रिक और समावेशी कहा गया है। दुनिया में जहां कहीं भी शिक्षा में संशोधन और परिवर्तन हुए हैं, वहां वाद-विवाद होते रहे हैं। मगर इसकी संवेदनशीलता को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। यह सिर्फ पढ़ाई-लिखाई यानी समाज को साक्षर बनाने पर नहीं फोकस करती है, बल्कि लोगों को शिक्षित करने का सपना बुनती है। साक्षरता का संबन्ध पढ़ने-लिखने और तकनीकी ज्ञान-कौशल से है, शिक्षित करने में उपर्युक्त योग्यताओं के साथ नैतिक मूल्यों का भी होना आवश्यक होता है।

शिक्षा का अर्थ सिर्फ इतना नहीं होता कि वह व्यक्ति को संसार के व्यावहारिक मूल्यों का सामना करने के योग्य बनाए बल्कि शिक्षा को ऐसे व्यक्तित्व गढ़ने का संकल्प लेना चाहिए जो दुनिया को खुशहाली की दिशा में ले जाएं। सकारात्मक बदलाव के अंतर्गत स्कूली शिक्षा के प्रारूप में परिवर्तन किया गया है। इसकी पहली स्टेज 'पूर्व प्राथमिक शिक्षा' की है। अब बच्चा 3 साल की आयु में विद्यालय में प्रवेश लेगा और नर्सरी से कक्षा 2 तक की शिक्षा ग्रहण करेगा। इसमें विद्यालय प्रीपिरेशन मॉड्यूल का जो 3 से 6 वर्ष के बीच का समय है, उसमें बच्चे के मस्तिष्क का 85 प्रतिशत विकास हो जाता है। निश्चय ही इस अवस्था में बच्चे को विशेष देखभाल, सुरुचिपूर्ण खेलकूद आधारित शिक्षा, आनन्दमय और सृजनात्मक परिवेश में गतिविधियां करने का अवसर उपलब्ध होना आवश्यक है। शिक्षाशास्त्र में यह पूर्व प्राथमिक शिक्षा कहीगई है। नई शिक्षा नीति में इसको शामिल किया गया है, यह हर्ष का विषय है। शैक्षणिक सुधार के लिए मानवीय संसाधन यानी शिक्षक की आवश्यकता होगी। वह कहां से आएंगे? मोटी फीस वसूलने वाले किंडर गार्डन और प्लेवे मेथड स्कूल शहरों-कस्बों में खूब हैं। उच्च और मध्य वर्ग के बच्चे इन स्कूलों में जाते हैं। किंतु एक बहुत बड़े गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले असहाय समुदाय के बच्चों के लिए तो सरकारी शिक्षा व्यवस्था ही एकमात्र सहारा है।

नई शिक्षा नीति में पूर्व प्राथमिक को शिक्षा की मुख्य धारा में स्थान प्राप्त करना एक बड़ी बात है। इसे कैसे प्रभावी बनाया जा सकता है, इस पर खुले मन से बात होनी चाहिए। मगर किसी के लिए यह गौर तलब मुद्दा नहीं है। शिक्षा के नए ढांचे में 1 और 2 की कक्षाएं भी जोड़ी गई हैं। खेल, संगीत, कला, योग जैसे विषयों को भी आरम्भ से ही पढ़ने-पढ़ाने का प्रावधान है। यह ऐसे विषय हैं, जो व्यक्तित्व में निखार ले आते हैं। इसका महत्वपूर्ण पहलु यह है की आरम्भिक शिक्षा मातृ भाषा में दी जाएगी।

किंतु देश के अंदर अंग्रेजी का ऐसा आकर्षण है कि जिसके पास भी कुछ पैसे होंगे, वह हिंदी माध्यम के स्कूल से दूर भागेगा। इसलिए सरकार के स्तर पर मुहैया कराई जाने वाली शिक्षा में हर वर्ग के बच्चे होंगे, तभी यह प्रभावी हो पाएगी। सिर्फ नीति और नीयत से पूर्ण उपलब्धि नहीं प्राप्त हो सकती है।

देश में जो अंग्रेजी का अंधा आकर्षण है, इससे कैसे मुक्ति मिले, इस दिशा में भी गम्भीर मंथन की जरूरत है। हिंदी के उपयोग की बात हो, तो तत्काल यह हिंदी थोपने का मुद्दा बनकर माहौल में गर्माहट पैदा कर देता है। लेकिन अंग्रेजी से मुक्ति का आह्वान सदैव बेअसर रह जाता है।

जबकि दुनिया भर के राष्ट्रों के अनुभव से यह बात सीखी जा सकती है कि प्राथमिक स्तर पर बच्चों को शिक्षा अपनी मातृभाषा में ही दी जानी चाहिए। अपनी भाषा में सीखना आसान, रुचिकर, स्थायी और गुणवत्तापूर्ण होता है। मातृभाषा में जो हम पढ़ते हैं, वह हमारे चिंतन, तर्क और कल्पना के साथ सहज रूप से समायोजन करने में समर्थ होता है।

निकर्ष - शिक्षा के दो पहलू होते हैं, एक ज्ञान और दूसरा समझ! नई शिक्षा नीति 'समझ' पर अधिक केंद्रित है। समझ आधारित शिक्षा के लिए ज्ञान का विचार और व्यवहार से एकीकरण आवश्यक होता है। यह पूरी प्रक्रिया मातृभाषा में ही संभव हो सकती है। इसलिए इस महत्वाकांक्षी शिक्षा नीति को सफलता की मंजिल तक ले जाना है, तो मातृभाषा संबंधी मुद्दे पर कोई समझौता नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा न हुआ तो लाखों बच्चों की विवेक के उचित संरक्षण, संवर्द्धन और प्रबंधन से हम चूक जाएंगे।

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा, आर. (2018). *प्राथमिक शिक्षा में सुधार और सामाजिक परिवर्तन.* नई दिल्ली: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद।
2. गुप्ता, एस. (2019). *भारतीय समाज में प्राथमिक शिक्षा का प्रभाव.* वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन।
3. मिश्रा, पी. (2020). *शिक्षा नीति और प्राथमिक शिक्षा का विकास.* लखनऊ: शिक्षा प्रकाशन।
4. वर्मा, ए. (2017). *ग्रामीण भारत में प्राथमिक शिक्षा की चुनौतियाँ.* भोपाल: मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।
5. सिंह, डी. (2021). *प्राथमिक शिक्षा और सामाजिक समानता.* पटना: लोक शिक्षा प्रकाशन।
6. जोशी, एम. (2016). *भारतीय प्राथमिक शिक्षा में बदलाव और परिणाम.* जयपुर: राजस्थान विश्वविद्यालय प्रकाशन।
7. चौधरी, के. (2022). *नवीन शिक्षा नीति और प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप.* दिल्ली: भारतीय शिक्षा परिषद।
8. पांडेय, आर. (2015). *प्राथमिक शिक्षा का सामाजिक प्रभाव: एक अध्ययन.* इलाहाबाद: शिक्षा शोध संस्थान।
9. Kumar, R. (2019). *Primary education reforms and social impact in India*. Journal of Educational Development, 45(2), 112–128.
10. Sen A. (2020). *Education and social equity: The role of primary schooling*. International Review of Education, 66(3), 245–260.
11. Nair, P. (2018). *Changing patterns in Indian primary education*. Asian Journal of Social Sciences, 12(4), 301–315.
12. Robinson, L. (2021). *The impact of primary education reforms on rural communities*. Comparative Education Review, 65(1), 78–95.

भारतीय विज्ञान एवं चिकित्सा पद्धति के विकास का इतिहास

अजित सिंह*

भारतीय विज्ञान की परपंरा विश्व की प्राचीनतम वैज्ञानिक परपंराओं में एक हैं। भारत में विज्ञान का उद्भव ईसा से 3000 वर्ष पूर्व हुआ हैं। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त सिंधु घाटी के प्रमाणों से वहाँ के लोगों की वैज्ञानिक दृष्टि तथा वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोगों का पता चलता है। प्राचीन काल में चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में चरक और सुश्रुत, खगोल विज्ञान व गणित के क्षेत्र में आर्यभट्ट, ब्रह्ममगुप्त और आर्यभट्ट द्विवतीय और रसायन विज्ञान में नागार्जुन की खोजों का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान हैं। इनकी खोजों का प्रयोग आज भी किसी–न–किसी रूप में हो रहा हैं।

आज विज्ञान का स्वरूप काफी विकसित हो चुका हैं। पुरी दुनिया में तेजी से वैज्ञानिक खोजें हो रही हैं। इन आधुनिक वैज्ञानिक खोजों की दौड़ में भारत के जगदीश चन्द्र बसु, प्रफुल्ल चन्द्र राय, सी वी रमण, सत्येन्द्रनाथ बोस, मेघनाद साहा, प्रशान्त चन्द्र महलनोविस, श्रीनिवास रामानुजन, हरगोविन्द खुराना आदि का वनस्पति, भौतिक, गणित, रसायन, यांत्रिकी, चिकित्सा विज्ञान, खगोल विज्ञान आदि क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान है।

भारतीय विज्ञान : विकास के विभिन्न चरण तथा उपलब्धियाँ

वैदिक युग की विशिष्ट उपलब्धि चिकित्सा के क्षेत्र में थी। मानव शरीर के सक्ष्म अध्ययन के लिए वे शव विच्छेदन (पोस्ट मार्टम) प्रक्रिया का कुशलता से उपयोग करते थे। प्राकृतिक जड़ी–बूटियों और उनके औषधीय गुणों के बारे में लोगों को विशद ज्ञान था। तत्कालीन चिकित्सक स्नायुतत्रं और सुषुम्ना (रीढ़ की हड्डी) के महत्त्व से भली–भाँती परिचित थें मौसम–परिवर्तन शरीर, में सूक्ष्मजीवों की उपस्थिति तथा रोग पैदा करने वाले आनुवांशिक कारकों आदि के सिद्धांतों को वहाँ से मान्यता प्राप्त थी। आयुर्वेद चिकित्सा–पद्धति का बहुतायत में उपयोग होता था। आवश्यकता पडने पर शल्य–चिकित्सा भी की जाती थी। बाद में तो अरबों तथा यनू ानियों ने भी शल्य–चिकित्सा को अपनाया। फिर तो रोम साम्राज्य में भारतीय जड़ी–बूटियों की भी माँग चिकित्सा के क्षत्रे में होने लगी। उसी समय वनस्पतियों और जतं ुओं के बाह्य तथा आंतरिक सरं चनाओं के अध्ययन भी किए गए। कृषि के क्षेत्र में मिट्टी की उवर्रता बढाने के लिए फसल चक्र की पद्धति तब भी अपनाई जाती थी। भारत में वैज्ञानिक प्रगति का स्वर्ण काल ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा के बाद छठी सातवीं शताब्दी तक रहा। धतु–कर्म, भौतिकी, रसायन–शास्त्र जैसे विज्ञानों का विकास भी इस युग में हुआ था। प्रक्षेपकों का विकास तथा सिंचाई में अभियांत्रिकी का उपयोग उल्लेखनीय हैं। इस काल में भू–सर्वेक्षण की तकनीक अत्यंत विकसित थी। विशालकाय प्रस्तर स्तंभों के निर्माण में अनके प्रकार के वैज्ञानिक कौशलों का उपयोग इस युग की एक अन्य विशेषता हैं।

प्राचीन भारतीय विज्ञान की उपलब्धियाँ

चिकित्सा

भारत में चिकित्सा विज्ञान की सुदृढ़ परंपरा हैं चिकित्सा शास्त्र को वेद तुल्य सम्मान दिया गया है। यही कारण है कि भारतीय पद्धति के विषय में सर्वप्रथम लिखित ज्ञान आयुर्वेद की संज्ञा से अभिनिहित किया जाता हैं। भारतीय चिकित्सा पद्धति के विषय में सर्वप्रथम लिखित ज्ञान अथर्ववेद में मिलता है। अथर्ववेद में विविध रोगों के उपचारार्थ प्रयोग किए जाने सबं ध भैषज्य सूत्र सकं लित हैं। इन सूत्रों में विभिन्न रोगों के नाम तथा उनके निराकरण के लिए विभिन्न प्रकार की औषधियों के नाम भी दिया गए हैं। जल चिकित्सा, सूर्य किरण चिकित्सा और मानसिक चिकित्सा के विषयों पर इसमें विस्तृत विवरण मिलता हैं। अथर्ववेद के बाद ईसा से लगभग 600 वर्ष पर्वू काय चिकित्सा पर चरकसंहिता और शल्य चिकित्सा पर सुश्रुत सहिता मिलती हैं, ये चिकित्सा शास्त्र के प्रामाणिक और विश्वविख्यात ग्रथं है।

आयुर्वेद शास्त्र

आयुर्वेद शास्त्र का विकास उत्तरवैदिक काल में हुआा। इस विषय पर अनके स्वतत्रं गंथ्र ों की रचना हुई । भारतीय परम्परा के अनुसार आयुर्वेद की रचना सबसे पहले ब्रह्म ने प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनी

* प्रवक्ता इतिहास, राजकीय आश्रम पद्धति इंटर कालेज, लखीमपुर, खीरी

कुमारो को और फिर अश्विनी कुमारों ने इस विद्या को इन्द्र को प्रदान किया। इन्द्र के द्वरा ही यह विद्या सम्पूर्ण लोक में विस्तारित हुई। इसे चार उपपेदों में से एक माना गया है।

कुछ विद्वानों के अनुसार यह ऋग्वेद का उपवेद है तो कुछ का मानना है कि यह अर्थवेद का उपवेद हैं। आयुर्वेद की मुख्य तीन परम्पराएं हैं– भारद्वाज, धनवन्तरि और काश्यप। आयुर्वेद विज्ञान के आठ अगं हैं– शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविधा, कौमारमृत्य, अगदतन्त्रा, रसायन और वाजीकरण। चरक संहिता, सुश्रुत सहिता, काश्यप सहिता इसके प्रमुख ग्रंथ हैं जिन पर बाद में अनेक विद्वानों द्ववारा व्याख्याएं लिखी गई।

आयुर्वेद के सबसे महत्वपर्णू ग्रन्थ चरकसहिता के बारे मे ऐसा माना जाता है कि मूल रूप से यह ग्रन्थ आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य अग्निवेश ने लिखा था। चरक ऋषि ने इस ग्रन्थ को संस्कृत में रूपांतरित किया। इस कारण इसका नाम चरक सहिता पड़ गया। बताया जाता है कि पतजं लि ही चरक थे। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई ंपू पाचंवी शताब्दी माना जाता है। चरक संहिता महर्षि चरक को काय चिकित्सा का प्रथम ग्रथं लिखने का श्रेय दिया जाता है। चरक संहिता को औषधीय शास्त्र में आयुर्वेद पद्धति का आधार माना जाता है। आयुर्वेद का अर्थ है जीवन का शास्त्र। चरक संभवतः इस बात को जानते थे कि शरीर में ह्रदय एक मुख्य अवयव है। उन्हें शरीर में रक्त संचार क्रिया का भी ज्ञान था। वे यह भी जानते थे कि कुछ बीमारियाँ ऐसे कीटाणुओं के कारण होती हैं जिन्हें हम अपनी आँखों से सीधे नहीं देख सकतें चरक सहिता तत्कालीन प्रशिक्षित चिकित्सकों और चिकित्सालयों का भी विवरण मिलता है। चरक पहले चिकित्सक थे, जिन्होंने चयापचय, पाचन और शरीर प्रतिरक्षा के बारे में बताया। चरक सहिता में शरीर विज्ञान, निदान शस्त्र आरै भ्रूण विज्ञान के विषय में जानकारी मिलती हैं चरक को आनुवाशिकी के मूल सिद्धन्तों का भी ज्ञान था। उन्हें उन कारणों का पता चला जिससे बच्चे का लिंग निश्चित होता है। चरक सहिता का अनुवाद अनके विदेशी भाषाओं में हुआ है।

सुश्रुत संहिता

सुश्रुत रचित यह ग्रथं भारतीय शल्य चिकित्सा पद्धति का विश्वविख्यात ग्रथं हैं। इस सहिता में सुश्रुत ने अपने से पहली के शल्य चिकित्साकों के ज्ञान और अनुभवों को सकंलित कर कए व्यवस्थित रूप दिया है। अपनी सहिता में उन्होंने लिखा है कि चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी मृत शरीर के विच्छेदन से अपने कार्य में कुशल बनाते हैं। सुश्रुत के अनुसार शव विच्छेदन एक प्रक्रिया हैं सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा के लिए 101 उपकरणों की सच्ूी भी दी हैं। उनका कहना था कि इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार स्वयं भी उपकरण तैयार करने चाहिए। उनकी सुची मे ंचिमटियाँ, चाकू, सुईयाँ, सलाइयाँ तथा नलिका आकृति के वे सब उपकरण हैं जिनका प्रयोग आज का शल्य चिकित्सा करता है। शल्य चिकित्सा से पहले उपकरणें को गर्म करने कीटाणु रहित करने की बात भी उन्होंने कही है। सुश्रुत भूज नालिका में पाए जाने वाले पत्थर निकालने में टूटी हड्डियों को जोडने और मोतियाबिदं की शल्य चिकित्सा में बहुत दक्ष थे। सुश्रुत को पुरे संसाार में आज प्लास्टिक सर्जरी का जनक कहा जाता हैं सुश्रुत सहिता में नाक, कान और ओंठ की प्लास्टिक सर्जरी का पूरा विवरण दिया गया हैं चरक और सुश्रुत की ही परपं राओं को अनेक सुप्रसिद्ध चिकित्सकों ने आगे बढ़ाया। महर्षि अजेय ने नाड़ी और श्वास की गति पर प्रकाश डाला। महर्षि पतंजलि ने योग से शरीर को निरोग रखने के उपाय बताए। आधुनिक चिकित्सक भी उन्होंने अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा विधियाँ बताई। वृद्धजय में गिने जाने वाले वाग्भट्ट ने अष्टागं सग्रंह और अष्टागंह्रदय सहिता की रचना की थी। इनमें आयुर्वेद का संपूर्ण ज्ञान समाहित हो गया हें माधवाकर रोग निदान और रोग लक्षणों पर प्रकाश डालने वाले पहले आचार्य थे। चरक संहिता के सपांदक दृढ़बल तथा प्रकाश के लेखक भावमिश्र चिकित्सा जगत के महान आचाय थे।

पशु चिकित्सा

भारत में पशुचिकित्सा विज्ञान भी काफी विकसित था। घोड़ों, हाथियों, गाय–बैलो ं की चिकित्सा से सबं धित अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। शालिहोत्र नामक पशु चिकित्सक के हय आयुर्वेद अश्व लक्षण शास्त्र तथा अश्व प्रशसां नाम के तीन ग्रथं उपलब्ध हैं। इनमें घोड़ों के रोगों और उनके उपचार के लिए औषधियो ं का विवरण है। इन ग्रंथों के अनुवाद अनके विदेशी भाषाओं में हुए। पालकप्य के हास्ते–आयुर्वेद में हाथियों की शरीर रचना तथा उनके रोगों का विवरण, उनके रोगों की शल्य क्रिया और औषधियों द्ववारा चिकित्सा, देखभाल और आहार का विवरण चरक और सुश्रुत की सहिताओं में भी मिलता हैं।

प्राचीन काल में चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र मे चरक और सुश्रुत, खगोले विज्ञान व गणित के क्षेत्र में आर्यभट्ट, ब्रह्ममगुप्त और आर्यभट्ट द्वितीय और रसायन विज्ञान में नागार्जुन की खोजों का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार ससांर की प्राचीनतम् पुस्तक ऋग्वेद है। विभिन्न विद्वानों ने इसका रचना काल ईसा के 3,000 से 5,000 वर्ष पूर्व तक माना है। ऋग्वेद–संहिता में भी आयुर्वेद के अतिमहत्त्व के सिद्धान्त यत्र–तत्र विकीर्ण है। चरक, सुश्रुत काश्यप आदि मान्य ग्रन्थ आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। इससे आयुर्वेद की प्राचीनत सिद्ध होती है। अतः हम कह सकते हैं कि आयुर्वेद की रचनाकाल ईसा पूर्व 3,000 से 5,000 वर्ष पहले यानि सृष्टि की उत्पति के आस–पास या साथ का ही हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. Nanda, Meera (16 september 2016) hindutva science envy Frontline मूल से 17 जुलाई 2017 को पुरालेखित, अभियान तिथि 14 अक्टूबर 2016
2. Science Medicine Technology in Ancient India मूल से 5 मई 2016 को पुरालखित अभिगमन तिथि 1 मई 2016
3. प्रियंका चौहान (2012) वैदिक वाड़मय में विज्ञान और प्रौद्योगिकी बरेलीः प्रकाश बुक डिपों आई एँस बी एँन 978–81799774434
4. विज्ञान और प्रौद्योगिकी
5. History of Indian Science and Technology (HIST) project

डॉ. भीमराव अंबेडकर का अल्पसंख्यक अधिकार सिद्धांत : संवैधानिक संरक्षण के विशेष संदर्भ में

डॉ. राम लाल चौधरी*

सारांश:-

आज के समय में लगभग हर विचारधारा अंबेडकर को अपने पक्ष में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रही है। वामपंथ से लेकर दक्षिणपंथ तक, विभिन्न राजनीतिक दल, सामाजिक आंदोलन और नेता उन्हें अपनी-अपनी वैचारिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने में लगे हैं। इस प्रक्रिया में अक्सर उनके विचारों को चुनिंदा उद्धरणों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उनके मूल चिंतन का स्वरूप विकृत हो जाता है। परिणामस्वरूप सार्वजनिक विमर्श में जो 'अंबेडकर' दिखाई देते हैं, वे वास्तविक अंबेडकर से काफी भिन्न होते हैं, विशेषकर उन लोगों के लिए जिन्होंने उनके मूल लेखन और भाषणों का गहन अध्ययन किया है। अंबेडकर न केवल एक विपुल लेखक थे, बल्कि अपने विचारों को अत्यंत सावधानी और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करते थे। उनके लेखन में कहीं भी असावधानी या सतहीपन नहीं मिलता। उन्होंने जिन भी मुद्दों पर अपनी राय दी, चाहे वे कितने ही जटिल या विवादास्पद क्यों न हों, वे गहरे अध्ययन, ऐतिहासिक संदर्भों और तार्किक विश्लेषण पर आधारित थे। अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर उनका दृष्टिकोण भी इसी गंभीरता और बौद्धिक ईमानदारी का उदाहरण है, जिसे समझने के लिए उनके मूल विचारों का निष्पक्ष अध्ययन आवश्यक है।

इस शोध पत्र का उद्देश्य अंबेडकर के अल्पसंख्यक अधिकारों से संबंधित दृष्टिकोण का विश्लेषण करना तथा भारतीय संविधान में निहित प्रावधानों के संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना है। यह अध्ययन दर्शाता है कि अंबेडकर का दृष्टिकोण मात्र राजनीतिक प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं था, बल्कि सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक न्याय के व्यापक आयामों को भी समाहित करता था। उन्होंने अल्पसंख्यकों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल, आरक्षण और मौलिक अधिकारों के माध्यम से संरक्षण की वकालत की। अंततः यह शोध निष्कर्ष निकालता है कि अंबेडकर का अल्पसंख्यक अधिकार सिद्धांत आज भी भारतीय लोकतंत्र के सुदृढ़ीकरण में अत्यंत प्रासंगिक है।

शब्द कुंजी:- अल्पसंख्यक अधिकार, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, वयस्क मताधिकार, सामाजिक न्याय, पाकिस्तान की मांग, संवैधानिक संरक्षण, जनसत्ता, आत्म निर्णय

प्रस्तावना:-

अंबेडकर का अल्पसंख्यक अधिकार सिद्धांत केवल सैद्धांतिक विमर्श तक सीमित नहीं था, बल्कि यह उनके सक्रिय सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों से गहराई से जुड़ा हुआ था। 'महाड़ सत्याग्रह' जैसे आंदोलनों के माध्यम से उन्होंने यह स्पष्ट किया कि अधिकार संघर्ष के बिना प्राप्त नहीं होते। उनके अनुसार, सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना के लिए केवल नैतिक अपील या सुधारवादी प्रयास पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि राजनीतिक शक्ति और संगठित संघर्ष आवश्यक है। अंबेडकर ने अल्पसंख्यक की अवधारणा को मात्र संख्यात्मक आधार पर नहीं, बल्कि सामाजिक उत्पीड़न और वंचना के संदर्भ में परिभाषित किया। उन्होंने दलितों को एक विशिष्ट 'राजनीतिक अल्पसंख्यक' के रूप में स्थापित करते हुए उनके लिए विशेष संवैधानिक संरक्षण, प्रतिनिधित्व और अधिकारों की वकालत की। साइमन कमीशन तथा 'गोल मेज सम्मेलन' में उनके हस्तक्षेप इस दिशा में महत्वपूर्ण रहे, जहाँ उन्होंने निर्वाचित प्रतिनिधित्व, वयस्क मताधिकार और आरक्षण जैसे उपायो पर बल दिया।

*असिस्टेंट प्रोफेसर (इतिहास), श्री शिवचरण माथुर राजकीय महाविद्यालय, मांडलगढ़ भीलवाड़ा, राजस्थान
Email - ramlal20586@gmail.com. मोबाइल नंबर – 9109657735

इस प्रकार, अंबेडकर का दृष्टिकोण पारंपरिक उदारवादी सिद्धांतों से आगे बढ़कर एक ऐसे संवैधानिक ढाँचे की स्थापना करता है, जो सामाजिक न्याय, समानता और वास्तविक लोकतंत्र को सुनिश्चित करता है। उनका अल्पसंख्यक अधिकार सिद्धांत आज भी समकालीन भारतीय लोकतंत्र के लिए अत्यंत प्रासंगिक और मार्गदर्शक है।

शोध विस्तार:-

'डॉ. बी. आर. अंबेडकर' के अल्पसंख्यक अधिकार संबंधी विचार समय के साथ विकसित हुए, जिसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने अपने ग्रंथ 'थॉट्स ऑन लिंगुस्टिक्स स्टेट्स' में किया है। उन्होंने स्वीकार किया कि उनके प्रारंभिक विचार सीमित साक्ष्यों पर आधारित थे, किन्तु बाद में उपलब्ध तथ्यों और अनुभवों के आधार पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। उनके अनुसार, एक जिम्मेदार चिंतक को अपने विचारों पर पुनर्विचार करने और उन्हें बदलने का साहस होना चाहिए। यह दृष्टिकोण उनके बौद्धिक ईमानदारी और वैज्ञानिक सोच को दर्शाता है।[1] हालांकि अंबेडकर के विचारों में समय के साथ परिवर्तन हुआ, लेकिन उनके राजनीतिक चिंतन की एक मूलभूत संरचना स्थिर रही। यह संरचना तर्क, प्रमाण और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित थी। वे मानते थे कि विचारो का विकास एक निश्चित वैचारिक ढाँचे के भीतर ही होता है, जिसमें मूल अवधारणाएँ और उनके संबंध स्थिर रहते हैं। इसी आधार पर उन्होंने अल्पसंख्यक अधिकारों का एक ऐसा सिद्धांत विकसित किया, जो गणतांत्रिक संवैधानिकता पर आधारित होते हुए भी उदारवादी धारणाओं को चुनौती देता है। अंबेडकर के विचार केवल सैद्धांतिक नहीं थे, बल्कि वे वास्तविक राजनीतिक संघर्षों से जुड़े हुए थे। 1927 में अपने पत्र 'बहिस्कृत भारत' में उन्होंने स्पष्ट किया कि केवल शिक्षा या सामाजिक सुधार से अस्पृश्यता समाप्त नहीं हो सकती। इसके लिए दलितों को संगठित होकर संघर्ष करना होगा और ऐसी शक्ति बनानी होगी, जिससे समाज उन्हें नजरअंदाज न कर सके। उन्होंने यह भी कहा कि अधिकार कभी दान में नहीं मिलते, बल्कि संघर्ष के माध्यम से प्राप्त किए जाते हैं।[2] 'महाड़ सत्याग्रह' जैसे आंदोलनों के संदर्भ में उन्होंने दलितों के आत्मसम्मान और साहस पर बल दिया। उन्होंने ऐतिहासिक उदाहरणों के माध्यम से यह दिखाया कि दलित समुदाय में वीरता की कमी नहीं है, बल्कि उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने की आवश्यकता है। उनका प्रसिद्ध कथन कि 'बलि बकरों की दी जाती है, शेरों की नहीं' इस बात को स्पष्ट करता है कि उन्होंने दलितों को संघर्षशील और आत्मविश्वासी बनने के लिए प्रेरित किया।[3]

अंबेडकर ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक अधिकारों के संबंध को भी गहराई से समझा। उनके अनुसार, भारतीय समाज में विभिन्न समूहों के बीच शक्ति-संतुलन का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने दलितों के अधिकारों की तुलना मुस्लिम अल्पसंख्यकों के अधिकारों से करते हुए यह तर्क दिया कि दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न होते हुए भी राजनीतिक अधिकारों के संदर्भ में तुलनीय हैं। इस संदर्भ में विदुषी 'अनुपमा राव' ने यह इंगित किया है कि अंबेडकर के लिए दलितों को एक 'अल्पसंख्यक' के रूप में परिभाषित करना आसान नहीं था, क्योंकि उनकी सामाजिक स्थिति अन्य अल्पसंख्यकों से भिन्न और अधिक जटिल थी।[4] दलितों की समस्या केवल संख्यात्मक अल्पसंख्यक होने की नहीं थी, बल्कि वे सामाजिक बहिष्कार और नागरिक अधिकारों से वंचित होने की विशेष स्थिति में थे। फिर भी , अंबेडकर ने अल्पसंख्यक अधिकारों का एक व्यापक सिद्धांत प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने विभिन्न प्रकार के समूहों (राष्ट्रीयताएँ, सामान्य अल्पसंख्यक और विशेष रूप से वंचित वर्ग) को एक ही विश्लेषणात्मक ढाँचे में रखा। उनका यह सिद्धांत 'जनसत्ता' पर आधारित था, लेकिन यह उदार संवैधानिकता की सीमाओं से आगे जाकर सामाजिक न्याय और समानता की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है। अन्ततः अंबेडकर का योगदान यह स्पष्ट करता है कि केवल संवैधानिक प्रावधानों से ही सभी समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि राज्य की कानूनी शक्तियों की अपनी सीमाएँ होती हैं और वास्तविक परिवर्तन के लिए सामाजिक चेतना, राजनीतिक संगठन और संघर्ष आवश्यक हैं। इस प्रकार उनका अल्पसंख्यक अधिकार सिद्धांत आधुनिक राजनीतिक चिंतन में एक महत्वपूर्ण और मौलिक योगदान के रूप में स्थापित होता है।

साइमन कमीशन के समक्ष बी. आर. अंबेडकर ने अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व और मताधिकार के प्रश्न पर अपने विचार प्रस्तुत किए। यह आयोग 1928 में जॉन साइमन की अध्यक्षता में भारत आया था, इसका उद्देश्य संवैधानिक सुधारों के लिए प्रतिनिधित्व की व्यवस्था तय करना था। अंबेडकर ने सबसे पहले अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों

की 'नामांकन प्रणाली' का विरोध किया और 'निर्वाचन' को अधिक उचित बताया। उनके अनुसार निर्वाचन न केवल लोकतांत्रिक सिद्धांतों के अनुकूल है, बल्कि यह 'राजनीतिक शिक्षा' का माध्यम भी है। यदि सरकार विधायिका के प्रति उत्तरदायी होगी, तो केवल निर्वाचित सदस्य ही मंत्री बन सकेंगे। इसलिए दलित वर्ग को भी निर्वाचित प्रतिनिधित्व मिलना आवश्यक है, अन्यथा वे सत्ता संरचना से बाहर रह जाएंगे। उन्होंने इस तर्क को अस्वीकार किया कि दलित वर्ग के मतदाता बिखरे हुए हैं, इसलिए उनके लिए निर्वाचन संभव नहीं है। उन्होंने कहा कि यदि अन्य समुदायों जैसे मुसलमान और यूरोपीय के लिए निर्वाचन संभव है, तो दलितों के लिए भी होना चाहिए। उन्होंने यह भी माना कि 'संपत्ति आधारित मताधिकार' के कारण बहुत कम दलित मतदाता पात्र होंगे, लेकिन इसका समाधान मताधिकार से वंचित करना नहीं, बल्कि योग्यता की शर्तों को कम करना है।[5]

अंबेडकर ने मताधिकार को 'संयुक्त जीवन की शर्तों को निर्धारित करने का अधिकार' बताया। उनके अनुसार, जिन समुदायों की सौदेबाजी की शक्ति कमजोर है, उन्हें अपने हितों की रक्षा के लिए अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। इसी कारण उन्होंने 'वयस्क मताधिकार' को सबसे उचित प्रणाली माना। हालांकि उन्होंने सीमित मताधिकार को अस्थायी रूप में स्वीकार किया, परंतु उनका अंतिम लक्ष्य सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार ही था।6 उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि दलित वर्ग को एक स्वतंत्र और विशिष्ट अल्पसंख्यक के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए। यह वर्ग अन्य सभी समुदायों की तुलना में अधिक राजनीतिक संरक्षण का पात्र है, क्योंकि वह सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप से अत्यंत पिछड़ा है। उन्होंने मांग की कि यदि वयस्क मताधिकार लागू हो, तो दलितों को आरक्षित सीटें मिलनी चाहिए; और यदि ऐसा न हो, तो उन्हें पृथक निर्वाचन क्षेत्र दिया जाना चाहिए।

अंबेडकर ने प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर एक महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किया कि केवल जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व निर्धारित करना पर्याप्त नहीं है। किसी समुदाय की सामाजिक और आर्थिक स्थिति भी महत्वपूर्ण है। उनका मानना था कि जितना अधिक कोई समुदाय कमजोर और वंचित होगा, उसे उतना ही अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए ताकि वह अपने अधिकारों की रक्षा कर सके। उन्होंने 'राजनीतिक अल्पसंख्यक' की अवधारणा को भी स्पष्ट किया। उनके अनुसार, केवल संख्या में कम होना पर्याप्त नहीं है; बल्कि वह समुदाय जो उत्पीड़ित और अधिकारों से वंचित है, वह ही वास्तविक अल्पसंख्यक है और उसे विशेष संरक्षण की आवश्यकता है। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर अंबेडकर ने 'बॉम्बे विधान परिषद' में दलितों के लिए उनकी जनसंख्या से अधिक 112 में से 22 सीटों की मांग की। उनका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि दलित प्रतिनिधित्व इतना प्रभावी हो कि वह बहुमत के निर्णयों को प्रभावित कर सके और अपने अधिकारों की रक्षा कर सके।

बी. आर. अंबेडकर ने अल्पसंख्यकों के संरक्षण के प्रश्न को केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं रखा, बल्कि इसके लिए व्यापक संवैधानिक और कानूनी सुरक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। 'जॉन स्टुअर्ट मिल' के विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने कहा कि केवल चुनावों के माध्यम से चुनी गई विधायिका यह सुनिश्चित नहीं करती कि जनता वास्तव में स्वयं शासन कर रही है। चुनावी व्यवस्था अक्सर सक्रिय बहुसंख्यकों के प्रभुत्व को ही स्थापित करती है, जिससे अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की अनदेखी हो सकती है। इसलिए, अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक के संभावित अत्याचार से बचाने के लिए विधिक संरक्षण अनिवार्य है।

अंबेडकर ने यह भी स्पष्ट किया कि भारत में 'डिप्रेस्ड क्लासेज' (अस्पृश्य वर्गों) की स्थिति यूरोप के अल्पसंख्यकों से कहीं अधिक गंभीर थी। यूरोप में जहाँ राजनीति अपेक्षाकृत धर्मनिरपेक्ष थी, वहाँ भी अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए संवैधानिक प्रावधान किए गए थे। इसके विपरीत भारत में सामाजिक और धार्मिक संरचनाएँ इतनी गहराई से जुड़ी हुई थीं कि राजनीति स्वयं 'धर्म का क्रियात्मक रूप' बन चुकी थी। ऐसे में, अस्पृश्य वर्गों के लिए विशेष सुरक्षा और भी आवश्यक हो जाती है, क्योंकि उनका दमन धार्मिक मान्यताओं द्वारा समर्थित था। हालांकि हिंदू समाज के कुछ सुधारवादी नेता अस्पृश्यता के विरोधी थे, परंतु अंबेडकर ने इस पर भरोसा करने से इंकार किया। उनका मानना था कि कानून ओर संस्थाएँ 'अच्छे लोगों के लिए नहीं, बल्कि बुरे लोगो' को ध्यान में रखकर बनाई जानी चाहिए।[7] इसलिए उन्होंने यह तर्क दिया कि अल्पसंख्यकों की सुरक्षा को संवैधानिक प्रत्याभूति (गांरटी) के रूप में सुनिश्चित करना अधिक सुरक्षित है, वनिस्पत इसके कि बहुसंख्यक समाज की सद्धावना पर निर्भर रहा जाए। इन्हीं

तर्कों के आधार पर अंबेडकर ने अस्पृश्य वर्गों के लिए कई ठोस मांगें रखीं। इनमें शिक्षा के लिए राज्य द्वारा पर्याप्त अनुदान सेना और पुलिस में बिना किसी भेदभाव के भर्ती तथा सिविल सेवाओं में एक निश्चित अवधि (लगभग 30 वर्षों) तक प्राथमिकता सम्मिलित थी।[8] उन्होंने यह भी कहा कि वर्तमान प्रशासनिक ढाँचा इन वर्गों के विरूद्ध काम करता है, क्योंकि सरकारी सेवाओं और न्यायालयों में मुख्यतः रूढ़िवादी हिंदुओं का प्रभुत्व था। आम लोगों के लिए संवैधानिक बहसों की अपेक्षा सुरक्षा और न्याय की प्रत्याभूति अधिक महत्वपूर्ण थी।

अंबेडकर के सिद्धांत की एक विशेषता यह थी कि उन्होंने अल्पसंख्यक अधिकारों को सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण से नहीं जोड़ा। अस्पृश्य वर्ग अपनी अलग पहचान रखना नहीं चाहते थे, बल्कि उस हीन और बहिष्कृत पहचान से मुक्ति चाहते थे, जो उन पर थोपी गई थी इस प्रकार उनका दृष्टिकोण पारंपरिक अल्पसंख्यक विमर्श से भिन्न था। सैद्धांतिक स्तर पर अंबेडकर ने अधिकारों को किसी दैवीय या प्राकृतिक सिद्धांत नहीं, बल्कि सामाजिक परिस्थितियों और ऐतिहासिक विश्लेषण से उत्पन्न माना। उन्होंने केवल धार्मिक सहिष्णुता की मांग नहीं की, बल्कि बहुसंख्यक की धार्मिक रूढ़ियों से उत्पन्न भेदभाव के विरुद्ध कानूनी सुरक्षा पर जोर दिया। उनका मानना था कि अल्पसंख्यकों की स्थिति में सुधार केवल राजनीति शक्ति और राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप से ही संभव है। इसलिए उन्होंने राज्य से अपेक्षा की कि वह धर्म के नाम पर चल रही भेदभावपूर्ण प्रथाओं को समाप्त करे और समानता आधारित समाज की स्थापना सुनिश्चित करे।

1930-31 में लंदन में आयोजित ब्रिटिश और भारतीय नेताओं के गोल मेज सम्मेलन में प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों पर चर्चा की गई थी। इन सम्मेलनों में अपने वक्तव्यों के दौरान डॉ. भीमराव अंबेडकर ने अल्पसंख्यक अधिकारों पर अपने स्थापित दृष्टिकोण को दोहराया और विभिन्न प्रतिस्पर्धी प्रस्तावों के संदर्भ में अपने तर्कों को और अधिक स्पष्ट तथा प्रखर बनाया। पहले गोलमेज सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन में (जिसका बहिष्कार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किया था) अंबेडकर ने स्पष्ट रूप से कहा कि भारत के ब्रिटिश शासकों पर सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे किसी भी ऐसे कदम से डरते थे जिससे उनके शासन के विरुद्ध प्रतिरोध उत्पन्न हो सकता था। उन्होंने कहा कि हमें ऐसी सरकार चाहिए जिसमें सत्ता में बैठे लोग यह समझते हों कि आज्ञापालन कहाँ समाप्त होगा और प्रतिरोध कहाँ शुरू होगा और जो न्याय तथा आवश्यकता के अनुसार सामाजिक और आर्थिक जीवन के नियमों में परिवर्तन करने से न डरे, यह भूमिका ब्रिटिश सरकार कभी नहीं निभा सकती। केवल वही सरकार जो जनता की हो, जनता के लिए हो और जनता द्वारा संचालित हो, यह कार्य कर सकती है। उन्होंने आगे कहा कि हमारी समस्याओं को हमसे बेहतर कोई नहीं समझा सकता और जब तक हमारे हाथों में राजनीतिक शक्ति नहीं होगी, तब तक हम उनका समाधान नहीं कर सकते। इसलिए केवल 'स्वराज्य संविधान' में ही हमें राजनीतिक शक्ति प्राप्त होने की संभावना है।[9] यह अंबेडकर के उस मूल सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन था कि दबे-कुचले वर्ग ब्रिटिश शासन को अपना रक्षक नहीं मानते थे। वे एक ऐसी प्रतिनिधिक सरकार की अपेक्षा रखते थे जो जनसत्ता और सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार पर आधारित हो। इसलिए मुख्य प्रश्न यह था कि यह स्वराज्य संविधान कैसा होगा।

अंबेडकर ने इस विचार को खारिज कर दिया कि अस्पृश्यता केवल एक सामाजिक समस्या है और इसका समाधान धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन से होगा। उन्होंने जोर देकर कहा कि यह एक राजनीतिक समस्या है, जिसका समाधान केवल राजनीतिक शक्ति से ही संभव है। जब सत्ता ब्रिटिशों से भारतीयों के हाथों में आने वाली थी, तब दबे-कुचले वर्ग इस प्रक्रिया में शामिल होने के लिए तैयार थे, लेकिन इस शर्त पर कि उनकी समस्याओं का समाधान समय के भरोसे न छोड़ा जाए।[10] उन्होंने एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक हस्तक्षेप करते हुए कहा कि अस्पृश्यता से मुक्ति को साधारण विधायी प्रक्रिया पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए, बल्कि इसे संविधान द्वारा संरक्षित एक मौलिक अधिकार बनाया जाना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि वर्तमान परिस्थितयों में दबे-कुचले वर्ग बहुमत के शासन को स्वीकार नहीं कर सकते, जब तक कि उन्हें पहले के सामाजिक बंधनों से मुक्त न किया जाए। उन्हें पूर्ण नागरिक अधिकारों से युक्त स्वतंत्र नागरिक बनाया जाना आवश्यक है।[11] दूसरे शब्दों में, निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभा में एक अल्पसंख्यक के रूप में उनकी भागीदारी तभी संभव है जब पहले उनकी नागरिक अक्षमताओं को समाप्त किया जाए। अस्पृश्यता केवल धार्मिक भेदभाव तक सीमित नहीं थी बल्कि इससे उन्हें सार्वजनिक स्थानों, रोजगार और आर्थिक सेवाओं के

उपयोग से भी वंचित किया जाता था। जब तक इन बाधाओं को समाप्त नहीं किया जाएगा, तब तक अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के प्रावधान प्रभावी नहीं होंगे। अंबेडकर ने यह भी मांग की कि संविधान में एक मौलिक अधिकार के रूप में अस्पृश्यता को अवैध घोषित किया जाए और इससे संबंधित सभी प्रकार के भेदभाव को समाप्त किया जाए। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि केवल अधिकारों की घोषणा पर्याप्त नहीं होगी, बल्कि उनके उल्लंघन पर दंड का प्रावधान भी आवश्यक है।[12] उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि यदि कानून के उल्लंघन पर कठोर दंड नहीं होगा तो यह अधिकार केवल कागजी साबित होंगे। पहला गोलमेज सम्मेलन जनवरी 1931 में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार पर सहमति के बिना समाप्त हुआ, जिससे अंबेडकर निराश हुए। उन्होंने कहा कि सीमित मताधिकार पर आधारित सरकार वास्तव में 'जनता की नहीं बल्कि वर्गों की सरकार' होगी।[13]

दूसरे गोलमेज सम्मेलन में अंबेडकर ने वयस्क मताधिकार का समर्थन किया और नामित सदस्यों तथा विशेष प्रतिनिधित्व (जैसे व्यापार, जमींदार आदि) का विरोध किया। उनके अनुसार ऐसे प्रावधान शक्तिशाली वर्गों को दोहरा प्रतिनिधित्व देते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि विशेष राजनीतिक प्रतिनिधित्व केवल उन कमजोर और सामाजिक रूप से पिछड़े अल्पसंख्यकों के लिए होना चाहिए जो बहुसंख्यक के अत्याचार से पीड़ित हैं। अंबेडकर एक मजबूत और हस्तक्षेपकारी आधुनिक राज्य के पक्षधर थे, जो कानून के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन ला सके। वे एक मजबूत संघीय सरकार के समर्थक थे, जो आवश्यक होने पर प्रांतीय सरकारों पर नियंत्रण रख सके और नागरिक अधिकारों की रक्षा कर सके। दूसरा गोलमेज सम्मेलन अंबेडकर और महात्मा गंाधी के बीच तीव्र मतभेद के साथ समाप्त हुआ। यह मतभेद वयस्क मताधिकार या अस्पृश्यता उन्मूलन पर नहीं, बल्कि इन प्रश्न पर था कि क्या दबे-कुचले वर्गों को एक अलग अल्पसंख्यक के रूप में मान्यता दी जाए। गांधी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध कठोर कानूनों का समर्थन किया, लेकिन पृथक निर्वाचन और आरक्षण का विरोध किया। अंबेडकर ने अपने उत्तर में कहा कि दबे-कुचले वर्ग सत्ता के हस्तांतरण के लिए उत्सुक नहीं हैं, लेकिन यदि वह प्रक्रिया अवश्यंभावी है, तो यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि सत्ता किसी एक वर्ग, गुट या समुदाय के हाथों में केंद्रित न हो, बल्कि सभी समुदायो के बीच उनके अनुपात के अनुसार वितरित हो।[14]

डॉ. भीमराव अंबेडकर का 'पाकिस्तान प्रश्न' पर दृष्टिकोण उनके अल्पसंख्यक अधिकारों के व्यापक सिद्धांत का महत्वपूर्ण हिस्सा था। 1930 के दशक में महात्मा गांधी और अंबेडकर के बीच 'कम्युनल अवार्ड' (साम्प्रदायिक पंचाट) तथा 'पूना पैक्ट' को लेकर गहरे मतभेद उभरे थे। यद्यपि पूना पैक्ट के कारण अंबेडकर को पृथक निर्वाचक मंडलों की अपनी मांग छोड़नी पड़ी, लेकिन उन्होंने अल्पसंख्यकों के संवैधानिक संरक्षण के अपने मूल सिद्धांत को कभी नहीं त्यागा। उनका मानना था कि केवल बहुसंख्यक आधारित लोकतंत्र अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की गारंटी नहीं दे सकता, इसलिए उनके अधिकारों को संविधान में स्पष्ट रूप से सुरक्षित किया जाना चाहिए। 1940 ईस्वी में मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान' की मांग उठाए जाने के बाद अंबेडकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'थॉट ऑन पाकिस्तान में इस विषय का गहन विश्लेषण किया। उन्होंने एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक अंतर - 'अल्पसंख्यक समुदाय' और 'राष्ट्र' के मध्य किया। उनके अनुसार अस्पृश्य, ईसाई और पारसी केवल अल्पसंख्यक समुदाय थे, क्योंकि वे भारत के भीतर ही एक साझा भविष्य में विश्वास रखते थे। इसके विपरित मुसलमानों को उन्होंने एक 'राष्ट्र' माना, क्योंकि उनके भीतर एक अलग राष्ट्रीय चेतना और अलग भविष्य की आकांक्षा थी।[15] अंबेडकर के अनुसार यह अंतर राजनीतिक अधिकारों के स्वरूप को निर्धारित करता है। जो समुदाय बहुसंख्यक के साथ एक ही राज्य में रहने को तैयार हैं, उन्हें संवैधानिक सुरक्षा, आरक्षण या विशेष प्रतिनिधित्व की आवश्यकता होती है। लेकिन जो समूह स्वयं को अलग राष्ट्र मानते हैं और साझा राज्य में रहना नहीं चाहते, उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए।[16] इस प्रकार मुसलमानों की पाकिस्तान की मांग को उन्होंने एक वैध राजनीतिक दावे के रूप में देखा। हालांकि अंबेडकर केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही नहीं रुके। उन्होंने पाकिस्तान की व्यवहारिकता का भी विश्लेषण किया। उन्होंने जनसंख्या, आर्थिक संसाधन, प्रशासनिक संरचना और सैन्य क्षमता जैसे कारकों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि यदि उचित शर्तो (जैसे पंजाब और बंगाल का विभाजन तथा जनसंख्या का विनिमय) के साथ पाकिस्तान बनाया जाए, तो यह भारत और मुसलमानों दोनों के लिए एक व्यावहारिक समाधान हो सकता है। अंबेडकर ने यह भी स्वीकार किया कि राजनीति में केवल तर्क नहीं बल्कि

भावनाएँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उन्होंने चेतावनी दी कि केवल तार्किक तर्क देकर पाकिस्तान की मांग को खारिज नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह एक मजबूत राजनीतिक इच्छा पर आधारित आंदोलन था। इसी संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा- 'मैं भारत की एकता से अधिक उसकी स्वतंत्रता को प्राथमिकता देता हूँ।'[17]

विभाजन के प्रश्न पर अंबेडकर ने लोकतांत्रिक सिद्धांतों को सर्वोपरि रखा। उनका मानना था कि इस प्रकार के महत्वपूर्ण निर्णय जनमत-संग्रह द्वारा लिए जाने चाहिए, न कि केवल नेताओं के बीच समझौतों से। कश्मीर और हैदराबाद जैसे मामलों में भी उन्होंने जनता की इच्छा को निर्णायक माना। अंबेडकर ने यह स्पष्ट किया कि विभाजन के बाद भी दोनों देशों में अल्पसंख्यक रहेंगे। इसलिए उनके अधिकारों की रक्षा के लिए संवैधानिक उपाय अनिवार्य होंगे। इस प्रकार, 'पाकिस्तान प्रश्न' पर उनका दृष्टिकोण केवल विभाजन का समर्थन या विरोध नहीं था, बल्कि यह लोकतंत्र, आत्मनिर्णय और अल्पसंख्यक अधिकारों के बीच संतुलन स्थापित करने का एक गहन प्रयास था।

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने भारतीय संविधान के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभाई, लेकिन इस प्रक्रिया में उन्हें व्यक्तिगत विचारों के स्थान पर राष्ट्र की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करना पड़ा। इससे पहले, मार्च 1947 में उन्होंने 'संविधान सभा' को एक महत्वपूर्ण ज्ञापन प्रस्तुत किया, जिसमें अल्पसंख्यक अधिकारों पर उनका पूर्ण विकसित दृष्टिकोण सामने आया।[18] अंबेडकर ने भारत के भावी संघ को 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इंडिया' कहा, जो संयुक्त राज्य अमेरिका से उनके बौद्धिक प्रभाव को दर्शाता है। उन्होंने संविधान में मौलिक अधिकारों की (समान नागरिकता, सार्वभौमिक मताधिकार, धर्म की स्वतंत्रता तथा भेदभाव और जबरन श्रम पर प्रतिबंध) की स्थापना पर जोर दिया। साथ ही, उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय को इन अधिकारों की रक्षा के लिए शक्तिशाली बनाने का प्रस्ताव रखा और उद्योग व कृषि के राज्य नियंत्रण की वकालत की।[19]

अल्पसंख्यक अधिकारों के संदर्भ में, अंबेडकर ने विशेष संवैधानिक सुरक्षा की आवश्यकता बताई। उनका मानना था कि भारत में बहुमत केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि सांप्रदायिक है। इसलिए 'ब्रिटिश संसदीय प्रणाली' अपनाने से बहुसंख्यक समुदाय के हाथों में स्थायी सत्ता केंद्रित हो सकती है। इसके विकल्प के रूप में उन्होंने कार्यपालिका और विधायिका के लिए निश्चित कार्यकाल तथा मंत्रिमंडल में अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व को अनिवार्य बनाने का सुझाव दिया।[20] उन्होंने यह भी कहा कि यदि देश का विभाजन उचित रूप से हो जाए, तो सांप्रदायिक राजनीति कमजोर हो सकती है और राजनीतिक दल सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर आधारित हो सकते हैं। अनुसूचित जातियों के अधिकारों के मामले में अंबेडकर ने 'पूना पैक्ट' की व्यवस्था का अस्वीकार करते हुए पृथक निर्वाचक मंडल की पुनः मांग की। उनका तर्क था कि संयुक्त निर्वाचन प्रणाली दलितों को वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं दे पाती। इसलिए चुनाव प्रणाली का निर्णय अल्पसंख्यकों की इच्छा पर छोड़ना चाहिए।

अंबेडकर ने सामाजिक बहिष्कार को अपराध घोषित करने और दलितों के लिए पृथक बस्तियाँ बसाने का भी प्रस्ताव रखा।[21] यह उनके इस अनुभव को दर्शाता है कि सामाजिक भेदभाव की समस्या अभी भी गहरी और जटिल थी। इसके साथी ही उन्होंने आर्थिक लोकतंत्र पर विशेष बल दिया। उन्होंने कृषि में राज्य स्वामित्व और उद्योगों में समाजवादी व्यवस्था का समर्थन करते हुए कहा कि लोकतंत्र केवल 'एक व्यक्ति, एक वोट' तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि 'एक व्यक्ति, एक मूल्य' को भी सुनिश्चित करना चाहिए। अंबेडकर ने यह स्पष्ट किया कि केवल राजनीतिक और संवैधानिक अधिकारों से अनुसूचित जातियों की मुक्ति संभव नहीं है, जब तक उनकी आर्थिक निर्भरता समाप्त नहीं होती। हालांकि यहाँ एक महत्वपूर्ण विरोधाभास उभरता है- जहाँ आर्थिक समानता के लिए एक मजबूत राज्य की आवश्यकता है, वहीं अल्पसंख्यक अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की शक्ति को सीमित करना भी जरूरी है। इस द्वंद्व का समाधान अंबेडकर पूरी तरह नहीं कर सके, लेकिन उनका यह दृष्टिकोण भारतीय लोकतंत्र के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण और दूरदर्शी सिद्ध हुआ।

डॉ. भीमराव अंबेडकर के अनुसार, यदि कोई अल्पसंख्यक समुदाय स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में पहचानता है, बहुसंख्यक के साथ साझा भविष्य स्वीकार नहीं करता और राज्य निर्माण की क्षमता रखता है, तो उसे अपनी राजनीतिक व्यवस्था निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिए। वहीं, जो अल्पसंख्यक समुदाय एक ही राज्य में रहना चाहता है, उसे संविधान द्वारा समान नागरिक अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता और भेदभाव से सुरक्षा मिलनी चाहिए। वे

मानते थे कि केवल औपचारिक समानता पर्याप्त नहीं है; कमजोर और वंचित अल्पसंख्यकों को विशेष राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी मिलना चाहिए, जिससे वे विधायिका में प्रभावी भागीदारी कर सकें। इस प्रतिनिधित्व का स्वरूप स्वयं अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा तय किया जाना चाहिए।

अंबेडकर ने यह भी स्पष्ट किया कि अल्पसंख्यक की पहचान केवल संख्या के आधार पर नहीं, बल्कि सामाजिक उत्पीड़न और भेदभाव के आधार पर होनी चाहिए। उनके अनुसार विशेष प्रतिनिधित्व का उद्देश्य इन समूहों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार करना और उन्हें समान नागरिकता दिलाना है। स्वतंत्रता के समय अंबेडकर ने यह स्वीकार किया कि केवल संवैधानिक अधिकारों से वास्तविक समानता संभव नहीं है। उन्होंने 'आर्थिक लोकतंत्र' की आवश्यकता पर बल दिया और अपनी पुस्तक 'स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटिज' में राज्य समाजवाद का विचार प्रस्तुत किया, जिसमें भूमि और उद्योग पर राज्य का नियंत्रण हो। उनका सिद्धांत आज भी प्रासंगिक है। उन्होंने जनमत संग्रह, छोटे राज्यों के निर्माण और क्षेत्रीय स्वायत्तता का समर्थन किया जिससे अल्पसंख्यकों को बेहतर प्रतिनिधित्व मिल सके। हालांकि, उन्होंने अल्पसंख्यकों के भीतर मौजूद असमानताओं जैसे- वर्ग और लैंगिक भेद पर सीमित चर्चा की। फिर भी उनका सिद्धांत यह संकेत देता है कि यदि किसी अल्पसंख्यक समूह के भीतर नई असमानताएँ उत्पन्न होती हैं, तो उनका समाधान लोकतांत्रिक तरीके से उसी समुदाय द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार अंबेडकर का दृष्टिकोण लोकतंत्र, समानता और सामाजिक न्याय के लिए सशक्त आधार प्रदान करता है।

अंबेडकर का अल्पसंख्यक अधिकारों का विशिष्ट सिद्धांत उनके सामान्य सिद्धांत का विस्तार है, जिसे दो मुख्य बिंदुओं में समझा जा सकता है। पहला-अल्पसंख्यकों के संरक्षण और उनके प्रतिनिधित्व का स्वरूप स्थायी नहीं होता, बल्कि उनकी सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। दूसरा- इन व्यवस्थाओं का निर्धारण स्वयं अल्पसंख्यक समूहों को करना चाहिए, न कि बहुसंख्यक द्वारा उन पर थोपा जाना चाहिए। अंबेडकर ने स्पष्ट किया कि अलग-अलग परिस्थितियों में अल्पसंख्यक समूह अलग रणनीतियाँ अपनाते हैं। उदाहरण के लिए बंगाल के मुसलमानों ने बहुमत में होते हुए भी पृथक निर्वाचक मंडलों को चुना, जबकि पंजाब के हिंदू, अल्पसंख्यक होने के बावजूद संयुक्त निर्वाचक मंडलों के पक्ष में थे। इससे यह सिद्ध होता है कि अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के उपाय उनक अपने अनुभव और रणनीति पर आधारित होने चाहिए। उन्होंने यह बताया कि भारत में सामान्य संसदीय सिद्धांत पूरी तरह लागू नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ का बहुमत अक्सर 'राजनीतिक' न होकर 'सामुदायिक' होता है। राजनीतिक बहुमत परिवर्तनशील और खुला होता है, जबकि सामुदायिक बहुमत जन्म आधारित और बंद होता है। यही कारण है कि भारत में बहुमत का शासन कई बार अल्पसंख्यकों के हितों के लिए चुनौती बन जाता है।

स्वतंत्रता के बाद 'अल्पसंख्यक' की अवधारणा संकुचित होकर मुख्यतः धार्मिक अल्पसंख्यकों विशेषकर मुसलमानों तक सीमित हो गई, जबकि अंबेडकर इसे जाति सहित व्यापक अर्थ में देखते थे। संविधान ने धार्मिक अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जाति-जनजाति के लिए अलग-अलग प्रकार के संरक्षण दिए, जिससे यह विभाजन और स्पष्ट हुआ। हालांकि आज भारत में बहुदलीय लोकतंत्र के कारण राजनीतिक बहुमत उभरते हैं, फिर भी चुनावी राजनीति में जाति और समुदाय का प्रभाव बना हुआ है। अंबेडकर के अनुसार केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यकों की वास्तविक मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि राजनीतिक दल अक्सर उनके प्रतिनिधियों को अपने ढाँचे में समाहित कर लेते हैं। 'सचर समिति (2006)' की रिपोर्ट से भी स्पष्ट हुआ कि मुसलमान सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गए हैं।[22] यदि उनके लिए विशेष प्रतिनिधित्व होता तो राजनीतिक दल उनकी अनदेखी नहीं कर पाते। अंततः अंबेडकर का अल्पसंख्यक अधिकारों का विशिष्ट सिद्धांत यह बताता है कि राज्य को समानता सुनिश्चित करने के लिए विशेष संवैधानिक उपाय करने चाहिए। फिर भी अनुसूचित जातियो के संदर्भ में यह प्रश्न बना रहता है कि अंतिम लक्ष्य केवल संरक्षण नहीं, बल्कि जाति का पूर्ण उन्मूलन होना चाहिए।

निष्कर्ष:-

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष स्पष्ट रूप से उभरता है कि बी. आर. अंबेडकर का अल्पसंख्यक अधिकारों संबंधी सिद्धांत आधुनिक लोकतांत्रिक चिंतन में एक अत्यंत मौलिक और दूरदर्शी योगदान है। उनके विचार समय के साथ विकसित अवश्य हुए, किन्तु उनकी मूल वैचारिक संरचना तर्क, प्रमाण और सामाजिक न्याय सदैव स्थिर

रही। उन्होंने यह स्थापित किया कि अल्पसंख्यक अधिकारों का प्रश्न केवल संख्यात्मक अल्पता का नहीं, बल्कि सामाजिक उत्पीड़न, बहिष्कार और शक्ति संतुलन का प्रश्न है। अंबेडकर ने उदारवादी संवैधानिकता की सीमाओं को पहचानते हुए यह तर्क दिया कि केवल 'औपचारिक समानता' या 'प्रतिनिधिक लोकतंत्र' अल्पसंख्यकों की वास्तविक सुरक्षा सुनिश्चित नहीं कर सकता। जॉन स्टुअर्ट मिल के प्रभाव के बावजूद उन्होंने उससे आगे बढ़कर बहुसंख्यक वर्चस्व की आलोचना की और विशेष प्रतिनिधित्व, संवैधानिक संरक्षण तथा राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप की आवश्यकता पर बल दिया। उनके लिए लोकतंत्र का अर्थ केवल ' एक व्यक्ति, एक वोट' नहीं बल्कि 'एक व्यक्ति, एक मूल्य' की स्थापना था। विशेष रूप से दलितों के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण पारंपरिक अल्पसंख्यक विमर्श से भिन्न था, क्योंकि वे सांस्कृतिक संरक्षण के बजाय सामाजिक मुक्ति और समान नागरिकता पर केंद्रित थे। 'अनुपमा राव' के अनुसार, दलितों को एक साधारण अल्पसंख्यक के रूप में परिभाषित करना जटिल था, क्योंकि उनकी स्थिति बहुआयामी वंचना से जुड़ी थी। इसी कारण अंबेडकर ने राजनीतिक शक्ति, संगठन और संघर्ष को अधिकार प्राप्ति का अनिवार्य साधन माना।

अंततः अंबेडकर का सिद्धांत यह रेखांकित करता है कि संवैधानिक प्रावधान आवश्यक है, परंतु पर्याप्त नहीं। वास्तविक सामाजिक परिवर्तन के लिए राजनीतिक सशक्तिकरण, आर्थिक लोकतंत्र और सामाजिक चेतना का विकास अनिवार्य है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण न केवल भारतीय संदर्भ में, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी अल्पसंख्यक अधिकारों और सामाजिक न्याय की बहस को एक सशक्त वैचारिक आधार प्रदान करता है।

सन्दर्भ सूचीः-

1. अंबेडकर, बी.आर., प्रीफेस ऑफ 'थॉट्स ऑन लिन्गुइस्टिक स्टेट्स, डॉ. बाबा साहब अंबेडकर:राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड 1, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, मुंबई, 1989 पृ.सं. 139-140
2. कीर, धनंजय, डॉ. अंबेडकर: लाइफ एण्ड मिशन, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई, 1971, पृ.सं. 82
3. अंबेडकर, भीमराव, डॉ. बाबा साहब अंबेडकर:राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड 19, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, मुंबई, 2014, पृ.सं. 129-140
4. राव, अनुपमा, दी कास्ट क्वेशनः दलित्स एण्ड दी पॉलिटिक्स ऑफ माडर्न इंडिया, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 2009, पृ.सं. 118-160
5. अंबेडकर, बी.आर., डॉ.बाबा साहब अंबेडकर:राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड2, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र,मुंबई, 2005 पृ.सं. 439-440
6. तदैव, पृ.सं. 441
7. तदैव, पृ.सं. 440-450
8. तदैव, पृ.सं. 442
9. तदैव, पृ.सं. 505
10. तदैव, पृ.सं. 506
11. तदैव, पृ.सं. 546
12. तदैव, पृ.सं. 538-540
13. तदैव, पृ.सं. 597
14. तदैव, पृ.सं 659-663
15. अंबेडकर बी.आर., थॉट्स ऑन पाकिस्तान, थैकर पब्लिकेशन, मुंबई, 1941, पृ.सं. 337-339
16. तदैव, पृ.सं. 4-5
17. अंबेडकर, बी.आर., डॉ. बाबा साहब अंबेडकर:राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड 8, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, मुंबई, 1990, पृ.सं. 367
18. अंबेडकर, बी.आर.,डॉ.बाबा साहब अंबेडकर:राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड1, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, मुंबई, 1989, पृ.सं. 381-449
19. तदैव, पृ.सं. 396-397
20. तदैव, पृ.सं. 413
21. तदैव, पृ.सं. 425-426
22. प्राइम मिनिस्टर्स हाई लेवल कमिटी (चेयर: रजिन्दर सचर) सोशल, इकोनॉमिक एण्ड एजुकेशनल स्टेटस ऑफ दी मुस्लिम कम्यूनिटी ऑफ इंडियाःए रिपोर्ट, मिनिस्टरी ऑफ माइनॉरिटीज अफेयर्स, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 2006